Chapter-2

दर्शन विश्लेषण तथा मूल्यांकन

भूमिका / दर्शन की व्याख्या / और अर्थ / दर्शन की उपयोगिता / दर्शन तथा फिलासफी / भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शनों का नामोल्लेख / श्रौतदर्शन / ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषद् / श्रौतदर्शन के मुख्य विचार और चरम लक्ष्य / ज्ञान / ज्ञान शब्द की व्युत्पत्ति और विविध अर्थ / ज्ञान के विविध अर्थ गीता के आधार पर / ज्ञान के प्रकार / ज्ञान का स्वरुप / बौद्धिक ज्ञान / सापेक्ष ज्ञान और निरपेक्ष ज्ञान / सत्य और असत्य के अर्थ और परिभाषा / ज्ञान के साधन / ज्ञान का उदय / विविध दर्शन के अनुसार ज्ञान / भारतीय चिंतन परंपरा में ज्ञान का महत्व / रहस्यवाद का अर्थ और स्वरुप / विविध विद्वानों के मत से रहस्यवाद की परिभाषा / वेद में रहस्यवाद / उपनिषद में रहस्यवाद / रहस्यवाद की लाक्षणिकताएँ / प्रेम का स्वरुप और रहस्यवाद में इसकी अभिव्यक्ति / रहस्यवाद का वर्गीकरण / निर्गुण परंपरा / सगुण परंपरा-कबीर-जायसी / भारत के अतिरिक्त रहस्यवाद / रहस्यवाद के भेदोपभेद / आत्मा और आत्मा का स्वरुप / अहंकार के प्रकार / लौकिक अहंकार / अहंकार की उत्पत्ति अविद्या से / ज्ञान प्राप्ति में अहंकार रहित होना अनिवार्य / पारमार्थिक अहंकार / अहं और आत्मा / मनसंबंधी विचार / मनोविग्रह के साधन / मन द्रौर हृदय / जन्म-मृत्यु संबंधी विचार / जन्म-मृत्यु से मुक्ति कैसे / जगत् / विविध दर्शनों के आधार पर माया-माया की व्याख्या और स्वरुप / माया के प्रकार - विद्या - अविद्या / माया की सर्वव्यापकता / द्वैत-अद्वैत का भेद माया के कारण / ईश्वर संबंधी चिंतन / ईश्वर का स्वरुप / जगत् की सृष्टि ईश्वर से / जीव और ईश्वर और माया / ईश्वर शासक / पालक, पोषक और नाशक/साधना संबंधी चिंतन-कर्ममार्ग / ज्ञानमार्ग और गुरु की आवश्यकता/भक्तिमार्ग ।

भूमिका ।

हमारी भारतभूमि केवल भौतिक रूप से ही 'सुजलां सुफलां' नहीं परंतु आध्यात्म एवं विश्व के गूढ़ रहस्यों को आत्मसात करने में भी विश्व का नेतृत्व करती है । भारत ने गंगा – जमुना जैसी पवित्र नदियाँ, नागाधिराज हिमालय जैसे पर्वत एवं प्रगाढ़ प्रशांत की गहराई के ठीक समान ही ज्ञान और चिन्तन के सूक्ष्म क्षेत्रो में भी पाई है ।

हमारे महर्षियों ने सृष्ट्योत्पत्ति के साथ साथ जितने प्रश्नार्थ खडे हुए अर्थात् जगत् क्या है ? जीव क्या है ? माया क्या है ईश्वर क्या है ? – इन सभी प्रश्नों के जवाब देने के लिये साधना की परम सीमाओं को छूकर शब्द के आधारपर यथासंभव अपनी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूतियों को दार्शनिक सिद्धांतों के रुप में प्रकट करके हमारे सभी प्रश्नों का समाधान करने का प्रयत्न किया है ।

ज्ञान शक्ति के पर्याय जैसे ब्राह्मणों और ऋषियों एवं मनीषियों के पास से समस्त मानव समाज ने अपने अपने चरित्र को सीखा था ।[1] विश्व को अज्ञानान्धकार से ज्ञानालोक में ले जाने का और मानव को सभ्यता सिखानेवाला यदि कोई है तो ये है भारत का तत्वचिंतन ।

---

१ एतदेश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मतः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षरन् सर्व मानवाः । (मुनुस्मृति २/२०)

तत्वज्ञान का मार्मिक विश्लेषण, अध्ययन, विविध सिद्धांत और इस विषय में पथप्रदर्शन करने में भारतीय चित्त जगत् अर्थात् दार्शनिकों, मीमांसको, नैय्यायिकों, वैदान्तियों और कई तत्वविवेचकों ने हमें गौरवान्वित किया है ।

विद्यार्थियों में सर्वश्रेष्ठ आत्मविद्या है[1] और ज्ञान में सर्वश्रेष्ठ आत्मज्ञान है[2] भारतवर्ष इन दोनों ज्ञान की निधि है, इसी कारण से तो सुख-समृद्धि में डूबे हुए देवलोग भी भारतभूमि पर मानव बनकर आने को तत्पर हैं ।[3]

हम यहां तत्वदृष्टि से दर्शन की इन सारी बातों की विविध आचार्यों के मत के आधार पर समझने का प्रयत्न करेंगे ।

---

१ यस्तु श्रेयोऽर्थी सहस्त्रेषु कश्चिदेवात्मविभ्दवति त्वद्विधो यस्मात् । कठोपनिषद अ. १/२/६

२ तं दुर्दर्श गूढ़ मनुप्रविष्टं
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
आध्यात्मयोगाधिगमेन देवं ।
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥ कठ- अ. ३/२/१२

३ अहो अमीषां किमकारी शोभनं
प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः ।
येर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे
मुकुन्द सवौपयिक स्पृहा हि नः ॥
श्रीमद् भागवत् - स्कंध - पू. अ. १९ श्लोक २१

दर्शन की व्याख्या

दर्शन की उपयोगिता

भारतीय चिंतन के अनुसार मानवयोनि श्रेष्ठ योनि है । महान भाग्यों के उदय से मनुष्यदेह की प्राप्ति होती है ।[1] बुद्धि और विवेक के कारण मनुष्य अन्य प्राणियों से भिन्न और श्रेष्ठ माना गया है । अन्य दैहिक क्रियाएँ एवं मनोभाव अन्य प्राणी और मनुष्य में समान रुप से देखने को मिलता है । जैसे कि आहार, निद्रा, भय, मैथुनादि।[2] परंतु मनुष्य में जो विवेक है, बुद्धि है[3], और कुछ जानने की जिज्ञासा है इसके कारण वह अन्य से अलग है।

यह बात अति स्वाभाविक है कि जहां बुद्धि होगी वहां जिज्ञासा होगी, प्रश्न रहेंगे, उत्तर की आकांक्षा रहेगी, अपनी खास दृष्टि और विचार रहेंगे और इन सबके कारण बुद्धिवान हर व्यक्ति का अपना अपना दर्शन होगा । वह सोचेगा

---

१ बडेभाग मानुषतन पावा
सुर दुर्लभ सद्ग्रंथनिगावा ।
साधन धाम मोक्षकर द्वारा ।
पाई न जेही परलोक संवारा ॥ रा.च.मानस. उत्तरकांड ।

२. आहार निद्रा भय मैथुनं च
सामान्य मेतत् पशुभिर्नराणाम् – संस्कृत सुभाषित

३. Man is rational animal. अरस्तू.

जीवन के विषय में, मृत्यु के विषय में, माया, जीव, जगत और ईश्वर के विषय में, धर्म के विषय में, अर्थात् जगत को जो धारण करनेवाला तत्व है इसके विषय में,[१] हम कौन है ? कहां से आये है ? हमारे पारिवारिक संबंध शाश्वत है कि केवल इहलौकिक है ?[२] इत्यादि ।

हमारे कुछ मनिषियों ने उपरोक्त सभी प्रश्नों का जवाब देने के लिये दर्शनशास्त्रों का विस्तार किया और मनुष्य इन दर्शनों के आधार पर सुंदर और आनंदमय जीवन निर्माण करने का आधार मिला । जीवन के विषय में कुछ आदर्श मिले । लौकिक और अलौकिक विवेक की जागृति में यह दर्शनशास्त्र अत्यंत उपकारी सिद्ध हुए।

यह बात तो निर्विवाद है कि कोई मानवजीवन में से और साहित्य में से दर्शन को निकालने का हीनप्रयास करे तो मानव जीवन पुनः पशुवत् या जंगली हो जायेगा ।

---

१ 'धारयति इति धर्म' – संस्कृत शब्दकोष

२ कस्त्वं........ कृत आयान्तं
को मे जननी को मे तात ? चर्पट पंञ्जरीका – शंकराचार्य ।

सुचारु, सामाजिक, धार्मिक और आध्यात्मिक सभी दृष्टि से सुंदर जीवन के लिये दर्शन आधारस्तंभ है । जिसके पास दर्शन नहीं है अर्थात् विशेष दृष्टि अथवा नीर-क्षीर विवेक नहीं है ऐसा आदमी केवल प्रकृति का दासमात्र है ।

दर्शन से मनुष्य की श्रद्धा एवं आत्मा पुष्ट होती है । गीता के मत से तो श्रद्धा के अनुरुप ही मनुष्य होता है । उसकी कार्यप्रणाली निश्चित होती है तथा उसी के अनुरुप उसे फल की उपलब्धि होती है ।[१]

विविध दर्शन विविध प्रकृति के मनुष्यों को उनकी प्रकृति के अनुरुप साधनामार्ग देते हैं और इस मार्ग के अनुसरण से मानव अपने जीवन को परमशांतिमय संतुष्ट और आनंदमय बना सकता है ।

इस प्रकार सुखान्वेषी मनुष्य तत्वज्ञान द्वारा जीवन के संघर्ष को सहज पार कर सकता है और हरक्षेत्र में विजय पाकर गौरव का अनुभव कर सकता है ।

---

१ "यो यच्छ्रद्धा स एव सः........ । गीता १७/३

दर्शन तथा फ़िलासफी

इसी दर्शन को पश्चिम के देशो में 'फिलॉसोफी' कहा गया है, फिलासाफी का अर्थ होता है – 'विद्यानुराग'– यह शब्द ग्रीक भाषा के दो शब्दों से बना है 'फिलास' अर्थात् प्रेम और सोफिसा – अर्थात् विद्या – विद्या का प्रेम[1] ।

'फिलासोफी' कल्पनाकुशल कोविदों के मनोविनोद का साधनमात्र है । जगत की अपूर्व आश्चर्यमय वस्तुओं को देखकर उनको जानने के लिए, कौतुक को शान्त करने के लिए, फिलासफी की उत्पत्ति बतलाई जाती है । प्रत्येक वस्तु की छानबीन करने का बाजार पश्चिमी दर्शन जगत में खूब गर्म है । जो बिना किसी गन्तव्य – स्थान के निर्धारण किए ही अपनी नौका विचार सागर में डाल देता है ।[2] परंतु भारतीय चिंतन और दर्शन में ऐसा नहीं है । भारतीय दर्शनकार का ध्येय निश्चित है । वह त्रिविध ताप के निकंदन के लिये साधनामार्ग को सूक्ष्म दृष्टि और विचार से निश्चित करने के बाद ही साधना मार्ग प्रदर्शित करता है । अर्थात् भारतीय दर्शनकारों का ध्येयनिश्चितता प्रथम गुण है । भारतीय

---

१ कुम्पे इन्ट्रोडक्शन टू फिलासफी । (प्रथम परिच्छेद)

२ 'भारतीय दर्शन' – बलदेव उपाध्याय पृ.५

दार्शनिक पश्चिम के दार्शनिकों की अपेक्षा विशेष दीर्घदृष्टा और सूक्ष्म दृष्टा है।'

भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शनों का नामोल्लेख

भारत में मुख्यतः श्रौत दर्शन, गीता दर्शन चार्वाक दर्शन, जैन दर्शन, बौद्ध दर्शन, न्याय दर्शन, वैशेषिक दर्शन और सांख्यदर्शन प्रचलित है । और पश्चिममें मेटाफिजिक्स (तत्वमीमांसा), एपिस्टोमोलाजी (प्रमाणमीमांसा), लोजिक (तर्कशास्त्र), एथिक्स (आचार अथवा कर्तव्यमीमांसा) एस्थेटिक्स (सौंदर्यमीमांसा) और साइकोलाजी (मनोविज्ञान) आदि दर्शन प्रमुख है ।

श्रौत दर्शन

वेद आर्य संस्कृति के प्राण समान है । भारत में वेद के अतिरिक्त धर्म और आध्यात्मिक चिंतन की कल्पना भी नहीं हो सकती । सभी इतिहास और पुराण वेद से ही निकले है ।[1]

अनिष्ट के नाश का साधन और इष्ट की प्राप्ति के लिए वेद एकमात्र साधन है ।

---

१ इतिहासपुराणाभ्यां वदं समुयबृहंयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥ (महाभारत आदिपर्व १/२५)

वेद एक ऐसा सजीव स्त्रोत है कि जिसकी गंगोत्री से धर्म और आध्यात्म में परम अवगाहन हो सके ऐसी गंगा निरंतर बहती रहती है और भारत भूमि को हरी-भरी बनाये रखने में इसका परम योगदान है ।

संहिता

वेद की 'वेदता' इसी में है कि वे प्रत्यक्ष से अगम्य तथा अनुमान के द्वारा अनुद्भवित अलौकिक उपाय का बोध करते हैं[२] हमारे यहां चार वेद हैं। ऋग्वेद, सामवेद, यर्जुवेद और अथर्ववेद । पुराणों का कहना है कि वेद को सरल बनाने के लिये वेद व्यासने यह चार विभाग किये ।[3] और अलग अलग रुप के अनुसार नाम भी दिये । वेद का एक नाम 'त्रयी' भी है[४] वेद के तीन विभाग है । संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यक । मंत्रो के समूह को संहिता कहते हैं । यज्ञ यागादि के विस्तृत अनुष्ठान को वर्णन को 'ब्राह्मण' कहा है । आरण्यक में वानप्रस्थाश्रम में उपयोगी विधि विधान है ।

---

१ सायणकृत तैत्तरीयसंहिताभाष्य भूमिकाः । पृ.२

२ श्रृतिय नः प्रमाणमतीन्द्रियार्थविज्ञानैत्पत्तौ । (शंकरभाष्य २/३/१)

३ 'त्रयी सांख्य योगः''....... शिवमहिम्न स्तोत्र

४ श्रीमद् भागवत स्कंध १/४/१९/२२

आरण्यक का अंतिम विभाग उपनिषद् है । आध्यात्म के विषय में सभी समस्याओं के समाधान के लिये उपनिषदों का सर्वोत्कृष्ट महत्व है । इनमें भारतीय दर्शन के मूल सिद्धांतों का दर्शन होता है ।

देवताओं का बहुत्व

देवताओं की उपासना और स्तुति को वेद में अधिकतम महत्व दिया गया है और अग्नि का सबसे ज्यादा महत्व है, इन देवताओं को विविध नामों से पुकारा गया है जैसे कि हिरण्गर्भ, प्रजापति आदि[1] उनके स्थान, मंत्र, वाहन इत्यादि का भी पर्याप्त ज्ञानप्राप्त होता है ।

ब्रह्म

अथर्ववेद ब्रह्म की व्यापकता और आत्मा की ब्रह्म से अभिन्नता को सर्वथा स्वीकारता हुआ 'खम्भ' और 'उच्छिष्ट' नाम से ब्रह्म का उल्लेख करता है ।[2] जो सर्वशक्तिमान है, सर्व जगत का कारण स्वरुप है, जगत के समस्तता और अस्तित्व का वह कारण स्वरूप है, पूरी सृष्टि पर उसकी सत्ता चलती है, और त्रिकालज्ञ तथा त्रिकालाबाधित है । उसे ज्येष्ठब्रह्म भी कहा गया है, भूमि, अग्नि, आकाश, अंतरिक्ष, अग्नि, चन्द्र, सूर्य, वायु जिनमें अर्पित होकर रहते हैं और वही आत्म स्वरुप है ।

---

१ हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः परितेक आसीत् ।
सदाधार पृथिवीं द्यामुते मां कस्मैदेवाय हविषा विधेम ॥ ऋ.वे. १०/१२१/९

२ अकामधीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कृत श्चनोनः ।
तमेय विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् । अथर्व १०/८/४४

''उच्छिष्ट'' ब्रह्म का वाचक है और इसका अर्थ है बाधारहित पर ब्रह्म[1] जिसे उपनिषदोंने ''नेति नेति'' से पुकारा है[2] ऋग्वेद का नासदिय सूक्त भी यही परमनियंता की बात करता है ।[3]

---

१ उच्छिष्टे नामरुपं चोच्छिष्टेलोक आहितः ।
उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम् ॥ (आ.सं. १३/७/१)

२ अथात आदेशो नेति नेति
नेह नानास्ति किंचन । बृहद् उप. ८/२/२३

३ नासदिय सूक्त भी इस विषय में ही अत्यंत महत्वपूर्ण है । यह सूक्त ऋग्वेदीय अद्वैत भावा को जिस रुप में अभिव्यक्त करता है उस रुप में अभिव्यक्ति करनेवाले अन्य सूक्तों का नितांत अभाव है । नासदिय सूक्त के ऋषि के सामने इस विश्व की उत्पत्ति की पहेली विद्यमान थी । यह विश्व कहां से उत्पन्न हुआ ? इसके मूल में कौन सा तत्व विद्यमान था? किस वस्तु की उत्पत्ति सर्वप्रथम हुई ? आदि प्रश्नों का समुचित उत्तर देना सरल काम नहीं है, परंतु इन्हीं प्रश्नों का उचित उत्तर अर्न्तदृष्टि की सहायता से प्रस्तुत किया गया है । 'सृष्टि के आदिकाल में न तो असत् ही था न तो सत था । वहां न तो आकाश था न तो स्वर्ग ही विद्यमान था । जो उससे पर है, किसने ढका था ? यह कहां था ? और किसकी रक्षा में था ? क्या उस समय गहन तथा गंभीर जल था ? उस समय न मृत्यु थी, न तो अमरत्व था, उस समय दिन तथा रात का पार्थक्य न था ।' इतने निषेधों के वर्णन के अनन्तर ऋषि सत्तात्मक वस्तु का वर्णन कर रहा है कि उस समय बस एक ही था, जो वायुरहित होकर भी अपने सामर्थ्य से श्वास ले रहा था । उससे अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु थी ही नहीं।

यह है नितान्त उदात्त एकत्वभावना ''तदेकम्'' - वह एक । उसके लिङ्ग निर्धारण में असमर्थ होकर वैदिक ऋषियों ने सर्वत्र उस परम तत्व के लिए नपुंसक 'तत्' तथा सत् शब्दों का प्रयोग किया है । वही इस जगत का मूल कारण है उसीसे यावत् चेतन और अचेतन वस्तुओं की उत्पत्ति हुई है । वह एक है, अद्वितीय है, उसके साथ तथा समकक्ष रहनेवाले अन्य वस्तु का वास्तव अभाव है । अग्नि, मातरिश्वा यम आदि देवता उसीके भिन्न रूप को धारण करनेवाले है, वह एक ही है परंतु कवि लोग उसे भिन्न भिन्न नाम से पुकारते हैं ।
(भारतीय दर्शन, आ. बलदेव उपाध्याय पृ. ३४-३५)

इस प्रकार वेदों के तीन भाग में से संहिता भाग में परमात्मा को, ब्रह्म को, परम तत्व को जीव-प्राणीमात्र में देवादि में और सारी सृष्टि में विहार करता हुआ स्वीकारा गया है ।[१] इस प्रकार हमारे आर्षद्रष्टा देवने ब्रह्म को विश्व से अभिन्न तत्व के रुप में स्वीकार कर एकत्वभावना स्थापित करके पूरी सृष्टि को ब्रह्ममय चित्रित करके सृष्टि के तत्वमात्र का आदर करने की एक उदात्त भावना स्थापित की ।[२]

---

१ इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सपुर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं कां मातरिश्वानमाहु ॥ (ऋ.वे. १/१६/४६)

२ The Vedic Philosophy does not stop even at monotheism. This tendency toward the one culminates in monism. There are mantras in the Vedas which allude to monism. e.g.

1. Sat is one; the wise regard him as many.
एकं सत् विप्रः बहुधा वदन्ति ।
2. All that was, that is and will be is but the purusa.
पुरुषं एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च्न भाव्यम् ॥
3. We make offerings to the Supreme God of the universe who is pervading the whole existance and each and every nook and corner of the univers; who is full of Anand and inexpressible.
कस्मै देवाय हविषा विधेम ।
कस्मै अत्र कि शब्दोऽनिज्ञर्तिस्वरुपत्वात् प्रजापतौ वर्तते ॥
4. The true essence of the gods is only one.
महत् देवानां सुरत्वमेकम् ॥
5. His is the soul of this univers deatched, self-dependent, immortal full of bliss, the choicest jewel of jewels, full of everlasting youth and external.
तमेव विद्वन् न विभाय मृत्योरात्मान् युवानम् ।
तमेव विदित्वमृत्युमेति नान्य पन्था विद्येर्तऽनाय ॥
6. Though pervading the whole universe He transcends it all.
पदोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामतदिवि ।
7. All the gods are but the Organs of the body of the soul of the universe.
एक स्मात्नोऽन्ये देवा प्रत्यंगानि भवन्ति ।
8. That inexpressible is the substratum of all names and the whole universe.
उच्छिष्टे नाम रुपं चोच्छिष्टे लोक आहिता ।

The belief in the identity between Atman and Brahman expressed so often in the Brahmanas, is to be traced back to these hymns of the vedas. This is further developed in the upnished sand then becomes one of the cardinal principles of Indian philosophy.

- Indian philosophy, p . 18-19
Dr. Vatsyayan

ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद

वेद के ब्राह्मण विभाग में वर्णाश्रम और वर्णाश्रम धर्मविषयक वर्णन मिलता है ।[1] और ब्राह्मणों के कर्मकांड का विस्तार से वर्णन मिलता है । यज्ञ का अतिमहत्व स्वीकारते हुए समग्र विश्व को यज्ञरुप माना गया है । यज्ञ को कल्याण का साधन और विष्णुस्वरुप बताया है ।[2]

उपनिषद वेद का अंतिम भाग है जिनमें भारतीय ऋषियोंने पूरा आध्यात्मशास्त्र कूट कूट कर भर दिया है । आत्मविद्या के परम गूढ़ रहस्यों का विस्तृत विवेचन हमें उपनिषदों में से मिलता है । उपनिषद के द्वारा मानव को वेदमार्ग, वेदधर्म का ज्ञान होता है इतना ही नहीं परंतु इहलौकिक और पारलौकिक कल्याण के लिये विविध साधन भी प्रदान किये है ।

उपनिषद् शब्द 'उप' तथा 'नि' उपसर्ग 'सद्' धातु से 'क्विम्' प्रत्यय जोडने पर निष्पन्न हुआ है । 'सद्' धातु के तीन अर्थ होते हैं – नाश होना, प्राप्ति होना, शिथिल करना ।

---

१ तैत्तरीय ब्राह्मण ३/१२/३

२ वही – विष्णुवै यज्ञः ।

३ भारतीय दर्शन पृ. ३७
उपनिषद् का अर्थ है आध्यात्म विद्या, जिस विद्या के अध्ययन करने से दृष्टानुश्रविक विषयों से मुमुक्षुजनों की संसार–बीजभूत अविद्या नष्ट हो जाती है ।

प्रस्थानत्रयी अर्थात् भारतीयचिंतन और विचारधाराके अनुसार आध्यात्म की प्राप्ति के लिये तीन ग्रंथो को स्वीकार किया है, जिनमें प्रथम स्थान उपनिषद् का है, द्वितीय स्थान गीता का और तृतीय स्थान ब्रह्मसूत्र का है। ब्रह्मसूत्र और गीता का मूलआधार उपनिषद् ही है । गीता को उपनिषद् का श्री कृष्ण के द्वारा दोहन किया गया सारभूत दुग्ध माना गया है ।

मुक्तिकोपनिषद् से उपलब्ध सूची के अनुसार कुल उपनिषद् संख्या १०८ है । कई उपनिषद् आज उपलब्ध नहीं है, सभी उपनिषदों में ऐतरेय, छांदोग्य, केन, तैत्तिरीय, कठ, श्वेताश्वर, ईशावास्य, बृहदारण्यक, माण्डूक्य, मुण्डक आदि ज्यादा प्रमाणभूत मानी गई है । इन सभी उपनिषदों पर शंङ्कराचार्य के भाष्य प्रायः प्राप्य है । इनमें से कुछ गद्यात्मक कुछ पद्यात्मक और कुछ गद्यपद्यात्मक है । इनमें से कुछ उपनिषद् वेदान्त संबंधी है, कुछ योग संबंधी और कुछ विविध अवतार संबंधी । सभी उपनिषदों में प्रायः एक ही प्रकार के दर्शन संबंधी सिद्धांत पाये जाते हैं । हमारे मुख्य भाष्यकार श्री शंकराचार्य, श्री मध्वाचार्य और उनके अनुवर्ती दार्शनिकों ने विविध उपनिषदीय सिद्धांत के आधार पर अद्वैत, विशिष्टाद्वैत और द्वैत सिद्धांतों की (मतकी) स्थापना की । केवल आस्तिकदर्शन ही नहीं परंतु जैन तथा बौद्ध जैसे नास्तिक दर्शनों के मूल भी उपनिषदों में मिलते हैं । इस प्रकार उपनिषद् हमारे आर्षद्रष्टाओं की अमूल्य विचार निधि का भंडार है ।

श्रौतदर्शन के मुख्य विचार और चरम लक्ष्य

उपनिषदों ने मुख्यतः आत्मतत्व[१], ब्रह्मतत्व[२] (सगुण ब्रह्म, निर्गुण ब्रह्म) जगत्[३] और कर्म को[४] स्वीकार किया है । इस प्रकार आध्यात्म और व्यवहार पक्ष दोनों पक्षों को अपने सिद्धांतो से आलोकित करके मनुष्य को सुंदर और शाश्वत जीवन कैसे बनाया जाय ? इसका उत्तर दिया है और साधन भी दिये हैं । उपनिषद् का परम ध्येय है - ध्यान के मार्ग से परमतत्व का अनुभव। उपनिषद् की भाषा में इन्हे अपरोक्षानुभूति नाम दिया गया है ।

---

१ आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवतु ।
बुद्धितु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च.. । (कठोपनिषद् - १/३-८)

२ सन्ति उभयलिङ्गाः श्रुतयो ब्रह्मविषयाः । सर्वकर्मेत्या द्याः सविशेषलिङ्गः अस्थूलमणु इत्येवमाद्याश्च निर्विशेषलिङ्गाः।- (शंकरभाष्य ।)

३ यशोर्णनाभिः सृजते गृह्वते च यथा ।
पृथाव्यामोषधयः सम्भवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात् केशलोयानि ।
तथाक्षरात् सम्भवतीह् विश्वम् ॥ (मु.उप. १/१/७)

४ अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति ।
स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति ।
यत्क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुत, तदभिसंपद्यते । (बृह. उप. ४/४/५)

इस प्रकार योग, ध्यान और कर्म साधन के आधार पर पैर रखकर मनुष्य आध्यात्म की परम ऊंचाइयों को प्राप्त कर सकता है और इस प्राप्ति अर्थात् अपरोक्षानुभूति की परम मार्गदर्शिका हमारी उपनिषद् है, कि जिनके द्वारा साधक परमानंद स्वरुप हो जाता है, वह एक ऐसी अवस्था है जो अनिर्वचनीय है। बाकी शब्द साधन से उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वह अवस्था 'नेति-नेति' जैसी ही हो जाती है।

उपनिषदों में केवल ज्ञान का भार नहीं है, केवल कोरे सिद्धांतो की भरमार नहीं है परंतु सिद्धांत के साथ-साथ साधन और उपाय भी उपलब्ध है। जिनके द्वारा साधक आध्यात्म की परम उपलब्धियां पा सकता है।

इस प्रकार भारतीय दर्शन प्रवाह ज्ञान और कर्म दोनों का स्वीकार करके मनुष्य को ज्ञानी के साथ कर्तव्यनिष्ठ बनाता है। यहां पलायन को कोई अवकाश नहीं है।[१]

---

१ "ज्ञानं भारःक्रिया बिना" - बिना क्रिया के ज्ञान केवल एक बोझ है, जिसे व्यर्थ ही ढ़ोना पड़ता है। उसका जीवन में कोई उपयोग नहीं होता। फलतः उपनिषद् का कहना है कि ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करना ही जीवन का लक्ष्य नहीं है, प्रत्युत उस ज्ञान को जीवन में उतारना भी है। इसलिए उपनिषद् आध्यात्म तत्व-ज्ञान के उपर आश्रित एक श्लाघनीय साधनमार्ग है।

- भारतीय दर्शन पृ.४८

ज्ञान की उत्पत्ति कैसे ?

सारी सृष्टि परमेश्वर की परम और विशिष्ट रचना है । मनुष्य तो अद्वितीय और असाधारण रचना है । मनुष्य के अतिरिक्त सभी प्राणी किसी भी नैमित्तिक शिक्षा के बिना अपने स्वाभाविक ज्ञान से ही अपनां समस्त जीवन व्यापार कर सकता है जैसे कि आहार, निद्रा, मैथुन आदि । यह ज्ञान बिना सिखाये ही सीख लेता है । परंतु मनुष्य का इससे विपरीत है । नैमित्तिक ज्ञान के बिना वह स्वाभाविक – दैहिक कार्याभार भी वहन नहीं कर सकता । कहने का तात्पर्य यह है कि स्वाभाविक ज्ञान भी बिना सहवास प्राप्त नहीं होता तो परम ज्ञान या ईश्वर संबंधी ज्ञान की बात तो बहूत दूर ही रह जाती है ।

मूलज्ञान के संबंध में डिस्कारहीज कहता है कि "जब मैं बहुत दूर और गहराई तक सोचता हूं तो ज्ञान होता है कि ईश्वरसंबंधी ज्ञान मनुष्य आप ही आप अपने हृदय में पैदा नहीं कर सकता । क्योंकि वह अनन्त है, हमारा मन शान्त है । वह व्यापक और हम एकदेशीय है । इससे यह स्पष्ट है कि मूल विचारों को हमने स्वयं ही बनाया, किन्तु परमात्माने आदि पुरुषों के हृदय में अपने हाथ से छाप दिया है।[१] मेडम ब्लेवेट्स्की भी ज्ञान को अपौरुषेय मानती है ।[२] प्रो. मेक्समूलर भी कहते हैं कि आदि सृष्टि से लेकर आजतक कोई बिल्कुल नया धर्म नहीं हुआ ।[३]

---

१ वैदिक संपत्ति – पृ. २०५

२ वही

३ वही

इस प्रकार इन प्रमाणों के और वास्तविकता के आधार पर हमको स्वीकार करना पड़ेगा कि ज्ञान न तो मनुष्यकृत है और न क्रमविकास की उपज । वह तो निःशंक ईश्वरदत्त ही है । और वह मनुष्य की सृष्टि के साथ दैवीशक्ति से प्रकट हुआ है ।[१]

ज्ञान शब्द की व्युत्पत्ति और विविध अर्थ

'ज्ञा + ल्यूट्' = ज्ञान

ज्ञान शब्द को विविध अर्थो में स्वीकार किया जाता है । जैसे कि जानना, समझना, परिचित होना[२] प्रवीणता[३] विद्या-शिक्षण[४] बुद्धि ज्ञान और प्रज्ञा की इन्द्रिय, चेतना, संज्ञान, आदि अर्थ निकलते है । परंतु विशेषकर उस धर्म और दर्शन की ऊँची सचाईयों पर मनन से उत्पन्न ज्ञान जो मनुष्य की अपनी प्रकृति या वास्तविकता को जानना तथा आत्म साक्षात्कार या परमात्मा मिलन की बात सिखलाता है[५] । और प्रायः सभी और दर्शन के ग्रंथ 'ज्ञान' को इसी अर्थ में ग्रहण करते हैं ।

---

१ 'तुलनात्मक भाषाशास्त्र अर्थात् भाषाविज्ञान – डॉ. मंङ्गलदेव शास्त्री – पृ. १७३

२ संस्कृत हिन्दी शब्दकोश – वामन शिवराम आप्टे पृ. ४१०

३ "सांख्यस्य योगस्य च ज्ञानम्" मा.१/७

४ "बुद्धिज्ञानेन शुद्धति" – मनु. ५/१०९

५. वा.शि. आप्टे – संस्कृत हिन्दीकोष – पृ. ४१०

ज्ञान के विविध अर्थ गीता के आधार पर

तत्वचिंतन के विषय में हम पहले देख चुके है कि उपनिषद् वेद का सार है और गीता उपनिषदों का सार है । भारतीय तत्वचिंतन में हम गीता को अलग करके तत्वज्ञान के विषय में कुछ भी समझने का प्रयत्न करें तो व्यर्थ है और इससे विपरीत यदि वेद और उपनिषदों को न खोले और केवल गीता के आधार पर भारतीय चिंतन को समझने का प्रयत्न करे तो पूरा दर्शन स्पष्ट हो जायेगा ये भी निर्विवाद है । गीता में प्रकरण के अनुसार 'ज्ञान' शब्द निम्नलिखित प्रकार से भिन्न भिन्न अर्थो में व्यवहृत हुआ है । बारहवें अध्याय के बारहवें श्लोक में ज्ञान की अपेक्षा ध्यान को और ध्यान की अपेक्षा कर्मफल के त्याग को श्रेष्ठ बतलाया है । यहां ज्ञान का अर्थ श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा होनेवाला विवेकज्ञान है ।[१] तेरहवें अध्याय के सत्रहवें श्लोक में 'ज्ञान' का प्रयोग आया है । यहां ज्ञान का अर्थ परमेश्वर का नित्यानंदधन स्वरुप ही है ।[२] अठारहवें अध्याय के बयालीस में श्लोक में ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्मो की गणना में 'ज्ञान' प्रयुक्त किया है[३] इसका अर्थ शास्त्रों का अध्ययन करना है । पांचवे अध्याय के सोलहवें श्लोक में और[४] चौदहवें अध्याय के प्रथम दो श्लोक में भी 'ज्ञान' का अर्थ तत्वज्ञान ही है ।[५]

---

१ श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासा ज्ज्ञानाद्ध्मानं विशिष्यते ।
ध्याना-कर्म फलत्याग सयागाच्छान्तिस्नन्तरम् ॥ १२/१२ (गीता)

२ ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥ १३/१७ (गीता)

३ शमो दमस्तपः शौचे क्षन्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिकमं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ १८/४२ (गीता)

४ ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमातमनः ।
तेषामादित्यवत्ज्ञानं पकाशयति तत्परम् ॥ ५/१६ (गीता)

५ परंभूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तयम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गतोः ॥
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपिनोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ १४/३-२ (गीता)

अठारवें अध्याय के इक्कीसवें श्लोक में वस्तु और जीव विषयक ज्ञान अर्थात् यहाँ 'ज्ञान' का अर्थ राजसी ज्ञान होता है ।[1]

तेरहवें अध्याय के ग्यारहवें श्लोक में तत्वज्ञान के साधन समुदाय का नाम 'ज्ञान' है ।[2]

तीसरे अध्याय के तीसरे श्लोक में 'योग' शब्द के साथ रहने से 'ज्ञान' शब्द का अर्थ ज्ञान योग यानी सांख्ययोग है ।[3]

इस प्रकार और भी बहुत से स्थानों पर 'ज्ञान' शब्द प्रयुक्त है जिसके विभिन्न अर्थ निकले है और इस तरह हमारे वेद-शास्त्र और पुराणों में ज्ञान शब्द योगवाही बन गया है ।

---

१ पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं
नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु
तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् । १८/३१

२ अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्वज्ञानार्थ दर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदनोऽन्यथा ॥ १३/११

३ लोकेऽस्मिन्द्विविधानिष्ठा
पुराप्रोक्तामयानध ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां
कर्मयोगेन योगीनाम् । ३/३

वेदान्त के अनुसार जीव और ब्रह्म भिन्न नहीं है, परंतु एक है ऐसा जानना और इस प्रकार बर्ताव करना, ब्रह्म और आत्मा के एकत्व का अनुभव करना वही 'ज्ञान' है ।[१]

ज्ञान के प्रकार

ज्ञान के दो प्रकार हैं (१) परोक्ष (२) अपरोक्ष । जिसमें "ब्रह्म है" – इस भाव के ज्ञान को परोक्ष ज्ञान कहते हैं । और इस प्रकार का ज्ञान होने से जिज्ञासु सब प्रकार से पापमुक्त होता है । क्योंकि 'ब्रह्म है' इस बातके स्वीकार से सर्वजगत ब्रह्ममय है ऐसा बोध रहने से व्यक्ति से पाप हो ही नहीं सकता ।

अपरोक्षज्ञान परोक्षज्ञान के बाद की कक्षा है । "वह ब्रह्म या परमात्मा मैं हुं" – ऐसे भाव अर्थात् ब्रह्म की आत्मा से अभिन्नता अनुभव को परोक्ष ज्ञान अथवा साक्षात्कार कहते हैं । इसके भी दो प्रकार है । दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान और अदृढ़ अपरोक्षज्ञान । दृढ़ अपरोक्ष ज्ञानमैं स्वस्वरुप में संशय रहित निष्ठा होती है । और अदृढ़ अपरोक्षज्ञान में गुरु और शास्त्रश्रवण की सहायता रहती है ।[२]

---

१ वेदांतशब्दकोष पृ. ४८

२ वही पृ. ४९

अदृढ़ अपरोक्ष ज्ञान में 'तत्वमसि' वाक्य पर विचार करना होता है बाद में यह 'अहं ब्रह्म' की अनुभूति होती है ।

न्याय में यथार्थज्ञान और स्मृतिज्ञान ऐसे दो प्रकार बताये गये हैं, इसके उपरांत भ्रांतिज्ञान की बात भी कही है । स्मृतिज्ञान भी दो प्रकार के है । यथार्थ स्मृतिज्ञान और अयथार्थ स्मृतिज्ञान ।[१]

ज्ञान का स्वरुप

ज्ञान ईश्वरप्रदत्त है । तो यह भी एक प्रश्न उठता है कि हमारे आदि ज्ञान का स्वरुप क्या था ? आदिज्ञान का स्वरुप निश्चित करने के लिये पूर्वज्ञान का स्वरुप समझ लेना चाहिए । ज्ञान का स्वरुप बहुत विशाल है । इसका विस्तार खाने, पीने, उठने, बैठने और शादी विवाह से लेकर वर्तमान समय के भौतिक विज्ञान और प्राचीन समय के भारतीय आध्यात्मिक ज्ञान तक का है । इसके स्वरुप के तीन विभाग है ।

(१) स्वाभाविक ज्ञान

(२) नैमित्तिक ज्ञान

(३) काल्पनिक ज्ञान[२]

---

१ वेदांतशब्दकोष पृ.४९

२ वैदिक सपत्ति पृ. २७७

इन तीनों ज्ञानों में प्रथम श्रेणी का ज्ञान जो हमें परम ज्ञान, आत्मज्ञान या अपौरुषेय ज्ञान कहते हैं उसे हम धार्मिक ज्ञान कहेंगे ।

डॉ. याकुब मसीह के अनुसार तीन प्रकार की मानसिक प्रक्रिया मानी गई हैं । (१) संज्ञात्मक (२) संक्रियात्मक (३) भावमूलक । वैज्ञानिक ज्ञान को संज्ञानात्मकता का आदर्श रुप माना जाता है । इसलिये जब ईश्वर संबंधी कथनों को संज्ञात्मक कहा जाता है तो इससे तात्पर्य होता है कि ईश्वर संबंध में एक प्रकार का वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त हो सकता है ।[1]

प्रोफेसर ए. जे. ए. के मत से ज्ञान के तीन लक्षण बताये गये हैं - किसी तथ्य के ज्ञान को तभी ज्ञान कहा जाए जब वह सत्य हो, फिर इस ज्ञान को विश्वसनीय होना चाहिए और विश्वसनीयता का प्रमाण होना चाहिए।[2] परंतु तथ्य और प्रमाण के लिये निरीक्षण करना होगा और यह सब इन्द्रियों का विषय है अर्थात् ईश्वर संबंधी ज्ञान और ईश्वर दोनों इन्द्रियातीत है ।[3]

---

१ समकालीन धर्मदर्शन पृ. २५१

२ वही पृ. २५२

३ वही पृ. २५२

इसी अपौरुषेयज्ञान को अज्ञेयवादी, प्रयोजनवादी और सहज ज्ञानवादी बुद्धि को सत्य तक पहुंचने में असमर्थ मानते हैं और बुद्धि अगम्य ज्ञान को अनुभूति कहते हैं ।[१]

तत्वमीमांसीय सत्य को प्रत्ययों के परोक्ष ज्ञान से नहीं अपितु अपरोक्ष प्रत्यक्ष किया जाना चाहिए । याकोबीने इस अपरोक्ष ज्ञान को ग्लाउबे 'श्रद्धामूलक विश्वास' कहा । यह वही जिसे हम सहज ज्ञान कहते हैं ।[२]

इस बात में पश्चिम विद्वान पेरिस के बर्गसांका मत भी स्वीकारणीय है। ऊपर हमने जिसे सहजज्ञान की संज्ञा दी उसी को बर्गसां ने 'सहजबोध' कहा। उसने सहजबोध की दुर्गाह्य विधिको एक सुनिश्चित परिभाषा देने और यह बनाने का प्रयास किया है कि यह विषयों के विस्तृत क्षेत्र पर प्रयुक्त होता है । उसने सहजबोध के विषय में अपने मत को सर्वोत्तम ढंग से बतलाया है ।[३]

---

१ दर्शन के प्रकार पृ.१००

२ वही पृ.१०५

३ वही पृ.१०८

वह इस बात को स्पष्ट कर देता है कि सहजबोध किसी प्रतिज्ञप्ति विशेष के संबंध में "निश्चित होना" नहीं है। यह उस विषय का प्रत्यक्ष है जो वास्तव में उपस्थित है। यह 'ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष" का इन्द्रियों से परे के क्षेत्र तक विस्तार है, जो अदृश्य है तथा स्पर्श से अगम्य है, किन्तु फिर भी वास्तविक है, इस कारण इसे केवल प्रत्यक्ष भी कहा जा सकता है, जैसे कालका बोध इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता, फिर भी बर्गसां के अनुसार कालका सहजबोध (अन्तर्दृष्टि) से प्रत्यक्ष किया जा सकता है।

तो सहजबोध किन विषयों को प्रत्यक्ष कर सकता है ?-गति तथा परिवर्तन के सभी प्रकारों को, क्योंकि काल उनकी संरचना में प्रवेश करता है। आत्मा को, आत्मा के पर की जीवित सत्ताएँ, पशु, अन्य व्यक्ति, जो कुछ भी "अनुसंवेदिबुद्धि" (सीम्पेथेटीक इन्टेलीजन्स) का विषय हो। इसके अतिरिक्त जीवन के उन अंशों को जिस में जीवन होता है और जो जीवन से निःसृत होती है, पुस्तकें, नाटक के पात्र, दक्षता के कार्य। सम्भवतः दुर्लभ एवं चरम उपलब्धि के रुप में जगत की एकता में उसके जीवन के केन्द्रित गति को। क्योंकि बर्गसां का विश्वास है कि एक ऐसी वस्तु है, जो सक्रिय प्रेरकशक्ति है अथवा जीवनीशक्ति है।[1]

---

१ दर्शन के प्रकार पृ. १०९

क्या हम इन विषयों की कोई सामान्य परिभाषा दे सकते हैं ? ये ऐसे विषय होने चाहिए जिनका एक 'अन्तर' और एक 'बाह्य' है । क्योंकि सहजबोध उनका आन्तरिक रुप में प्रत्यक्ष करता है, जबकि उन पर बुद्धि बाह्य रुप विश्लेषण करती है, जबकि सहजबोध उनको सरलता से तथा एक इकाई के रुप में ग्रहण कर लेता है । इस प्रकार वे सब ऐसे विषय है, जिनकी कोई सावयवी विशेषता है, जो विविधता को एकता में बांध देती है, और प्रतिवर्तित रुप में ऐसी सभी वस्तुओं को सहजबोध से जाना जा सकता है ।

परंतु बुद्धि के वे कौन से दोष है जो इन विषयों के सही ज्ञान प्राप्त करने से इसे रोकते है ? उन पर समय समय पर ध्यान दिया गया है । हमें इन्हें एकत्रित करना चाहिए ।[१]

बौधिकज्ञान

बौधिक ज्ञान बाह्य होता है । बुद्धि किसी विषय पर बाह्य रुप से अर्थात् अन्य विषयों के माध्यम से पहुँचती है[२], और फिर इस विषय को इन अन्य विषयों के समान अथवा उनसे भिन्न मानती है ।

---

१ दर्शन के प्रकार पृ. १०९

२ वही

जो ज्ञान बुद्धिगम्य नहीं है उसे निरपेक्ष कहते हैं जिसको पहले हमने अपरोक्ष नाम दिया ।

सापेक्षज्ञान

किसी वस्तु को किसी अन्य वस्तु से उसकी सादृश्यता के आधार पर जानना उसे उस अन्य वस्तु से संबंधित रुप में जानना है । इसे उस रुचि के संदर्भ में भी जानना है । जिसने मुझे उस सादृश्यता को देखने की ओर उन्मुख किया है । मेरी पत्तियों में रुचि है तो मैं यह निरीक्षण करता हूँ कि खजूर के वृक्ष में अन्य वृक्षों के समान पत्तियाँ हैं । परन्तु यदि मैं लकड़ी काटनेवाला या काठ-कबाड़ का व्यापारी हूं तो यह अधिक संभव है कि मैं खजूर को सब्जियों की कोटि में रखूं, क्योंकि इससे मुझे लकड़ी बिल्कुल भी नहीं मिल सकती । इस प्रकार प्रत्येक प्रत्यय अथवा वर्ग किसी 'दृष्टिकोण', किसी विशिष्ट रुचि का परिचायक होता है । पुस्तक के विषय में, किसी प्रकाशक की धारणा की भांति, कि यह बहुत या कम बिकती है, अपितु पुस्तक को किसी निश्चित रुचि के संदर्भ में ही जाना जाता है, जैसे वह है, उस रुप में नहीं । अतः यह ज्ञान सापेक्ष है निरपेक्ष नहीं[1]।

---

१ दर्शन के प्रकार पृ. ११०

सापेक्षज्ञान अर्थात् बौद्धिक ज्ञान अपने विषयों को स्थायी और इसलिए मृत के रूप में प्रदर्शित करता है । जीवन को पकड़ने के लिए यह निश्चित इकाइयों एवं नियमों को पकड़ने का प्रयास करता है और इसका असफल होना निश्चित है ।

निरपेक्षज्ञान

जहां बुद्धि असफल हो जाती है अथवा बुद्धिगत विश्लेषण नाकामयाब होता है वहां निरपेक्ष ज्ञान सफल होता है । जो अनेक दृष्टिकोणों, तुलनाओं, विशिष्ट रुचियों से परे होता है और विषय से यह सीधा स्वयं की सत्ता से अव्यवहित संबंध स्थापित करता है । और इसे सहज बोध भी कहते हैं ।

सहजबोध से अनुभववादी तथा बुद्धिवादी के बीच के झगड़े के सुलझने की भी अपेक्षा होती है । क्योंकि यह दोनों ही बौद्धिक विधि का प्रयोग करते हैं । अनुभववादी किसी जीवित वसतु का अध्ययन करने पर, मानलो आत्मा पर, यह रिपोर्ट करता है कि यह अनेक 'अवस्थाओं' से बनी हुई है – वह सोचता है कि वह शुद्ध निरीक्षण का वर्णन कर रहा है परन्तु वस्तुतः वह अपनी विश्लेषणात्मक बुद्धि का शिकार हो जाता है । बुद्धिवादी आत्मा की एकता पर बल देता है किन्तु बद्धि के प्रमेय के रूप में एकता केवल अमूर्त सांख्यिक गुण है जो आत्म तथा खम्भे अथवा पत्थर के समान है, दोनों ही सापेक्ष सत्य हैं[1] ।

---

१ दर्शन के प्रकार पृ. १११

दोनों ही आत्मा के सच्चे ज्ञान में तभी सहयोग दे सकते हैं जबकि वे सहजबोध की शरण लें, क्योंकि केवल वही इन समानताओं की गहराई में उतरकर जीवित व्यक्ति में जो विलक्षण है उस तक पहुँचने में सक्षम है ।[१]

इस प्रकार हमने देखा कि सापेक्षज्ञान बुद्धिगम्य है और निरपेक्षज्ञान अनुभूति गम्य । अपरोक्ष आत्मज्ञान व्यापक एवं तीक्ष्ण जिज्ञासा का विषय है ।[२] सत्य को जानने के लिए अथवा ब्रह्म के अनुभव के लिये अपरोक्ष ज्ञान ही सहायभूत हो सकता है ।

सत्य और असत्य

सत्य :- जो त्रिकालाबाधित है, नित्य है और एकरुप है । जिसे ब्रह्म भी[३] कहा गया है । दूसरे अर्थ में दूसरों का अहित न करनेवाला और प्रियवचन को भी सत्य कहा है ।[४]

असत्य :- जो नाशवान और मिथ्या है तथा जिसकी प्रतीत भी नहीं होती है तथा कालावशी है उसे असत्य कहा गया है ।[५]

---

१ ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः गीता १७/२३

२ दर्शन के प्रकार पृ. १११

३ वही पृ. ११२

४ वेदान्त शब्दकोष पृ. ११५

५ वही पृ. ११५

परब्रह्म परमात्मा को परमसत्य माना गया है[1] जगत में कहे जाने योग्य न कहने योग्य, आश्रय-अनाश्रय, चेतन-अचेतन, आदि जो 'कुछ भी है उसे' ब्रह्मवेत्ता लोग 'सत्य' नाम से पुकारते हैं ।

'सत्' वही है जो उत्तरकालीन किसी ज्ञान के द्वारा बाधित न हो, और 'असत्' वही है जो उत्तरकालीन ज्ञान के द्वारा बाधित हो असत् को समझने के लिये रज्जु-सर्वमान्य श्रेष्ठ उदाहरण है । परंतु सत्य तो तीनों काल और तीनों दशा अर्थात् जागृत स्वप्न और सुषुप्ति से परे है । अर्थात् सर्वकालिक, एकरुपेण उपस्थित रहे वही सत्य है । वह एक और अद्वितीय है, ब्रह्म से पृथक समस्त नानात्मक जगत् मिथ्या है ।[2]

प्रपंचमय जगत् पदार्थ कभी-कभी भ्रम के कारण सत् मालूम पड़ते हैं ।[3] परंतु इससे वह सत्य नहीं हो जाता, सत्य तो सत्य ही है, परम विजयी है जिसकी महिमा उपनिषदोंने भी गाई है ।[4]

---

१ तत्सत्यमित्याचक्षत । तदप्येष श्लोको भवनी तैत ६/१

२ भारतीय दर्शन पृ. ३७०

३ वितयैः सद्दशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः । माण्डू ४/३१

४ सत्यमेव जयति नानृतं
सत्येनमन्या विवतो देवयानः ।
येनाक्रमन्त्युषयो व्याप्तकामा
यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥ मुण्ड ३५ ३/१/६

MEHTA LIBRARY
S University of Baroda

ज्ञान के साधन

वेदान्तदर्शन में ज्ञान का अत्यंत महत्व है । ज्ञान प्राप्ति के लिये 'साधन चतुष्टय' बताया गया है जिनमें विवेक, वैराग्य, सम आदि षट्संपत्ति और मुमुक्षुता[1] श्रवण, मनन, निदिध्यासन, तत्पद और त्वंपद का शोधन मनोनाश, वासनाक्षय आदि साधन भी बताये गये हैं [2]।

ज्ञानप्राप्ति की क्रिया शंकराचार्य ने 'विवेकचूडामणि' और 'उपदेशसाहस्त्री' में बड़ी रोचक भाषा में वर्णित की है । शिष्य वेदान्त ज्ञान की प्राप्ति के निमित्त 'साधन चतुष्टय' से संपन्न होता है । ब्रह्म केवल सत्य है, तदितर समस्त संसार अनित्य एवं असत्य है - इस विवेक का उदय प्रथम साधन है (नित्यानित्य वस्तुविवेक) । सांसारिक और पारलौकिक समस्त दुखों के भोग से उसे वैराग्य उत्पन्न होना चाहिए । शम (मन की एकाग्रता), दम, (इन्द्रियों का वश में करना, उपरति (वृत्तियों का बाह्य विषयों का आश्रय न लेना), तितिक्षा (चिंता, शोक से रहित अप्रतिकारपूर्वक दुःखों को सहना), समाधान (श्रवणादि में चित्त की एकाग्रता), श्रद्धा, गुरु और वेदान्त वाक्यों में अटूट विश्वास), तथा मुमुक्षुत्व (मोक्ष पाने की इच्छा) - इन समग्र गुणों के उदय होने पर मनुष्य वेदान्त श्रवण का अधिकारी बनता है । तदनन्तर शिष्य शांत, दान्त, अहेतुक, दयासिन्धु ब्रह्मवेत्ता गुरु की शरण में जाकर 'आत्मविषयक प्रश्न' करता है । गुरु को निष्प्रपंच ब्रह्म के स्वरुप का, यथार्थ ज्ञान करना उद्देश्य है, इसलिये वह 'अध्यारोप' और 'अपवादविधि' से ब्रह्म का उपदेश करता है ।[3]

अध्यारोप निष्प्रपंच ब्रह्म में जगत का आरोप कर देना है । और 'अपवाद' विधि से आरोपित वस्तु का एक एक कर निराकरण करना होता है । आत्मा के ऊपर प्रथमतः शरीर को आरोप कर दिया जाता है । तदनन्तर-युक्ति-बल के आत्मा को अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनंदमय पंचकोषों से व्यतिरिक्त तथा स्थूल सूक्ष्म कारण शरीरों से पृथक् सिद्ध कर उसके स्वरुप का बोध गुरु कराता है । वेदान्त की व्याख्या पद्धति बड़ी प्रामाणिक और शुद्ध वैज्ञानिक है ।

१-२ वेदान्त शब्दकोष पृ. ४९-११९ ३ भारतीय दर्शन ३७७

ज्ञान का उदय

अधिकारी गुरु (ब्रह्मवेत्ता) शिष्य को (मुमुक्षु को) उपदेश देता है कि तुम ही 'ब्रह्म हो' और इस साधन और शब्दों के आधार से परोक्षज्ञान उत्पन्न होता है ।[1]

मनन निदिध्यासन आदि योगप्रक्रियाओं के द्वारा अर्थात् गुरुदेव के शब्दों का वाक्यार्थ का ध्यान धारणा आदि साधन के साथ सतत मनन करने से अपरोक्षज्ञान का उदय होता है । आवरणों को दूर करने के लिये ही इस सब अनुष्ठानों की आवश्यकता है । परंतु शब्द का आधार तो अनिवार्य ही है । 'तत्त्वमसि' वाक्य सुनते ही ब्रह्म और आत्मा की भिन्नता अदृश्य हो जाती है । मैं ही तत्वरुप परम आत्मस्वरुप हूं, मैं ही ब्रह्म हूं ऐसा ज्ञान होता है । जिन्हे आत्मैक्य ज्ञान कहा है । और ऐसा ज्ञान होने से सद्यः आनंद का उदय होता है ।[2]

---

१ "निर्विचिकित्सादाम्नायाद अवगतात्मतत्वस्य अनादिमिथ्या दर्शनान्या सोपचिबलवत् संस्कारसामर्थ्याद् मिथ्यावभासानुवृत्तिः, तन्निवृत्तयेऽसि अन्यपदेक्ष्यम्, तस्मात् तन्निवृत्तये विनिश्चित ब्रज्ञात्म भावेनादि साधनान्यपेक्ष्याणि ।

(ब्रह्मसिद्धि - पृ. १३५)

२ सकृत्प्रकृत्या मृद्नाति क्रियाकारकरुप भृत् ।
अज्ञानमागमज्ञानं साङ्गत्यं ना स्त्यतोऽनयोः ।

(नैष्कार्य सिद्धि - १/७६)

विविध दर्शनों के अनुसार ज्ञान

इस प्रकार वेदान्त परोक्ष और अपरोक्ष ज्ञान की बात करता है ।[1] चार्वाक दर्शन केवल प्रत्यक्षी प्रमाण मानकर ही चलता है और इन्द्रियों के ज्ञान को स्वीकारता है ।[2] जैन दर्शन के अनुसार जीव चैतन्य है और ज्ञान उसका साक्षात् लक्षण है । जिस ज्ञान की उपलब्धि में आत्मा स्वयं कारणभूत है और अन्य किसी साधन की सहायता की आवश्यकता नहीं है उसे जैन दर्शन प्रत्यक्ष के नाम से पुकारती है और जिस ज्ञान की प्राप्ति इन्द्रिय और मन के द्वारा होती है उसे 'परोक्ष' का नाम दिया जाता है ।[3] सांख्यदर्शन कहता है कि जब आत्मा चैतन्यबुद्धि में प्रतिबिंबित होता है तब ज्ञान की उत्पत्ति होती है । सांख्य के अनुसार बुद्धि जड़तत्व है और आत्मा केवल पुरुष है । बुद्धि पर चैतन्य का प्रकाश पड़ने से किसी विषय का यथार्थ ज्ञान होता है और यह यथार्थ निश्चित ज्ञान को 'प्रमा' कहते हैं ।[4] मीमांसा दर्शन ज्ञान की मीमांसा करता हुआ कहता है कि 'अज्ञात तथा सत्यभूत पदार्थ को ज्ञान को 'प्रमा' कहते हैं । प्रमा के लिए पदार्थ को सत्य अर्थात् वास्तविक होना चाहिए ऐसे ज्ञान से भ्रम तथा संशय का निराकरण हो जाता है ।[5]

इस प्रकार के भारत के विविध दर्शनो ने थोडे बहुत शाब्दिक और सैद्धांतिक परिवर्तन के साथ ज्ञान की विविध व्याख्यायें दी हैं और विविध साधन बताये हैं । परंतु मूलतः सारे दर्शन वेदान्त को आधार मानकर ही चले हैं (चार्वाक के अतिरिक्त) ।

---

१ भारतीय दर्शन पृ. ६४
२ वही पृ. ८०
३ वही पृ. १००
४ वही पृ. २७२
५ वही पृ. ३१५, ३७७

भारतीय चिंतन परंपरा में ज्ञान का महत्व

भारतीय चिंतन परंपरा में वेद और उपनिषदों से लेकर गीता तक और पुराणों से लेकर आजतक ज्ञान का महिमागान हुआ है । बड़े बड़े चिंतकोंने ज्ञान के विषय में अपना अपना चिंतन प्रकट करने का प्रयत्न किया है । वैसे तो ज्ञान सूक्ष्म विषय है परंतु सूक्ष्मातिसूक्ष्म को समझने के लिये भी हमारे शब्द के सिवाय कोई आधार नहीं है । गुरु से शब्दज्ञान मिलता है और इससे ही सूक्ष्मज्ञान के अनुभव में जिज्ञासु प्रवेश करता है । गीता में मुक्ति का परम आधार ज्ञान बताया है ।

सच्चाज्ञानी स्वयं ज्ञान से कृतार्थ हुआ है ऐसा मानकर इन्द्रियों के सुखों को भुगतने पर भी बुद्धि का लय करके सुखपूर्वक रहता है[1] – अर्थात् ज्ञानी ज्ञानकी उपलब्धि हो जाने के बाद संसार में रहता हुआ और दैहिक क्रियाओं को करता हुआ भी अपने को "मुक्त है" ऐसा अनुभव करता है और इस मुक्तिभाव में ही ज्ञान की महत्ता है ।

---

१ अष्टावक्रगीता

कृतार्थोऽनेन ज्ञानेनेत्येवं गलितधीः कृती ।

पश्यंच्छृण्वन्स्पृशं जिघ्नन्नश्नन्नारते यथासुखम् ॥ १७/८

ज्ञानरहित कर्म को अविद्या उत्पन्न कार्य माने गये हैं और इसे असार तथा दुःख की जड़ माना है और ऐसे कर्म की उपनिषद् ने निंदा भी की है।[1]

ज्ञानरहित कर्म को अदृढ़ और विनाशशील बतलाया गया है । बिनज्ञान का ऋत्विक् और यजमान सहित अठारह यज्ञसाधन भी नाशवान् बतलाये गये हैं । अज्ञानी चाहे कितने भी यज्ञाकार्यादि करें परंतु वह जरा मरण से मुक्त कभी भी नहीं हो सकता ।[2]

भारतीय चिंतन में ज्ञान के बिना साधक आगे कदम ही नहीं बढ़ा सकता है । एक बार जो परम ज्ञान प्राप्त हो जाता है तो फिर सभी प्रश्न अपने आप सुलझ जाते हैं । और इसलिये यज्ञों के सभी प्रकार में ज्ञानयज्ञ को श्रेष्ठ कहा गया है यज्ञों के पांच प्रकार है ।

---

१ एतच्च ज्ञानरहितं कर्मैतावत्फलमविद्याकाम
कर्मकार्यमतोऽसारं दुःखमूलमिति निन्द्यते ।

२ प्लवा लेते अदृढ़ा यज्ञरुपा
अष्टादक्षेक्तमवरं येषु कर्म ।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥७॥
मुण्डकोपनिषद – २/७

पांच प्रकार के यज्ञों में द्रव्ययज्ञ, तपयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ और ज्ञानयज्ञ[१] परंतु ज्ञानयज्ञ को सर्वथा सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ माना गया है ।[२] इस बात की पुष्टि भगवान श्री कृष्ण ने गीता में भी की है कि द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अत्यंत श्रेष्ठ है । इतना ही नहीं परंतु संपूर्ण कर्म ज्ञान में ही समाप्त हो जाते हैं ।[३]

ज्ञानप्राप्ति के लिये पूर्व जो साधन चतुष्टय बताये गये हैं इसी संदर्भ में श्री कृष्ण भी अर्जुन को तत्वदर्शी ज्ञानियों के पास जाकर नम्रता और वंदन-दंडवत् प्रणाम के साथ सेवा भाव से छलकपट रहित होकर सरलता से प्रश्न करके ज्ञानार्जन करने का आदर्श देते हैं ।[४] अर्थात् ज्ञानप्राप्ति के लिये यहां तीन सोपान अनिवार्य माने गये हैं । प्रणिपात नम्रता, परिप्रश्न अर्थात् प्रश्नोत्तरी और श्रद्धा ।[५]

---

१ द्रव्ययज्ञ तपोयज्ञ योगयज्ञ स्तथापरै ।
स्वाध्यायज्ञान यज्ञस्य तेनु कर्म विसूचक ।

भागवत् - प्रथमस्कंध - महात्म्य

२ "ज्ञानयज्ञ स्मृतौबुधः" । - उपरीवत्

३ श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतपः ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥

गीता-४/३३

४ तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिमस्तत्वदर्शिनः ॥३०॥

गीता ४/३४

५ श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं

गीता ४/३९

एकबार जो मनुष्य ज्ञान को प्राप्त होता है तो फिर सब पापो से मुक्त हो जाता है । ज्ञान गंगा में उसके सारे पाप धुल जाते हैं । फिर कोई शोक और मोह नहीं रहता । समस्त प्राणी आत्मवत् हो जाते हैं और ज्ञानोपलब्ध पुरुष एकत्वदर्शी हो जाता है ।[१]

आत्मभाव जाग्रत होने के बाद जगत् स्वप्नवत् हो जाता है । कर्मबंधन का भाव छूट जाता है । कर्ताभाव और भोक्ताभाव भी छूट जाता है[२] और फिर ऐसी स्थिति को पाकर श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि – 'यदि तू अन्य सब पापियों से भी अधिक पाप करनेवाला है, तो भी तू ज्ञानरुप नौका द्वारा निःसंदेह पाप–समुद्र से भली भांति तर जायेगा ।[३] ज्ञानाग्नि में संपूर्ण कर्मों को भस्म करने की क्षमता है ।[४]

---

१ यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः
तत्र को मोहः कः शोकं एकत्वमनुपश्यतः (ईशावास्य – ७)

२ अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ (गीता ४/३६)

३ भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टेपरावरे ॥ (मुण्डकोपनिषद २/२/८)

४ यथैधांसि समिद्धेऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा । (गीता ४/३७)

तत्वज्ञान को पाने के लिये पहले वेद-शास्त्रों के ज्ञाता के पास यथाशक्ति भेंट लेकर अत्यंत नम्रता के साथ जाना पड़ता है । तब उस महात्मा पुरुष की प्रसन्नता से ज्ञान की प्राप्ति होती है ।[1]

कहने का तात्पर्य यह है कि परमात्मा के तत्व को भलीभांति जाननेवाले वेदवेत्ता ज्ञानी पुरुष ही उस तत्वज्ञान का उपदेश कर सकते हैं । और इस परम तत्वज्ञान को पाकर मनुष्य मोहमुक्त हो जाता है । श्री कृष्णने अर्जुन को कहा है कि - जिसको जानकर फिर तू इस प्रकार मोह को नहीं प्राप्त होगा, तथा हे अर्जुन ! जिस ज्ञान के द्वारा तू संपूर्ण भूतों को निःशेष भाव से पहले अपने में और फिर मुझ सच्चिदानंदघन परमात्मा में देखेगा ।[2]

---

१ 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः
क्षोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्'

(मुण्डकोपनिद - १/२/१२)

२ यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥

गीता-४/३५

कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञान चक्षु के समान है । बिना नेत्रों के मनुष्य जिन्दा होने पर भी जैसे लौकिक विश्व के कई सुंदर और आल्हादक दृश्यों को देख नहीं सकता और न हि इस परम मनोहर प्रकृति का आनंद पा सकता – ठीक इसी प्रकार ज्ञानचक्षु के अतिरिक्त मनुष्य अनेक अलौकिक अनूभूतियों से वंचित रह जाता है । शाश्वत सुख और शांति का अनुभव कभी भी नहीं कर सकता ।

''विमूढ़ा नानु पश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानक्षुषा''

(गीता/२)

परम ज्ञान के बिना मनुष्य परम तत्व परमात्मा – जो सच्चिदानंदघन और विज्ञानमय है उसे कभी भी नहीं समझ सकता । ज्ञान के बिना मनुष्य पर्यायविहीन संज्ञा जिसका नाम है आनंद उसको कभी भी प्राप्त नहीं कर सकता ।

भारतीय चिंतन और दर्शन का मुख्य ध्येय है मनुष्य को आत्मा और परमात्मा से परिचित करना । ये दोनों ही तत्व लौकिकता से बहुत परे और ऊंचे हैं । उसे छूने के लिये एक मात्र साधन-सीढ़ी है और ये है ज्ञान एक बार जब ज्ञान से मनुष्यने परमात्मा को पहचान लिया फिर उसके जीवन की प्रतिक्षण मुक्तिमय होगी।

'बिना ज्ञानेन मुक्ति' – गीता ।

रहस्यवाद को स्पष्ट करने के लिये विभिन्न विद्वानों ने शब्दों का आधार लिया है परंतु रहस्यवाद का मूल रहस्य ही वही है कि शब्दों से इसकी व्याख्या करना या परिभाषा देना अधूरी ही जान पड़ती है ।

कबीर जैसे रहस्यवादी स्वयं भी रहस्यवाद की बात आने पर असहाय हो जाते हैं[१] और छोटे बच्चे की भांति लाचार हो जाते हैं ।

तुलसी जैसे लोक नायक भी जहां रहस्यवाद की बात आती है वहां इसे स्पष्ट करने में अपनी अक्षमता को स्वीकार और परम तत्व की अलौकिक शक्ति को भी स्वीकार कर लेते ।[२] अच्छे अच्छे तत्वदर्शियों को भी इस रहस्य ने अपने से अभिभूत कर दिया है ।

रहस्यवादी साधक अपनी साधना के बल पर अनुभूति के आधार पर इस रहस्य को कुछ हद तक अभिव्यक्त करने में सफल रहे हैं कबीर, दादू, जायसी आदि इस कोटि में आ सकते हैं परंतु वास्तव में तो रहस्यवाद मौन की भाषा है । शब्द की पंगुता का जहां से प्रारंभ होता है वहां से रहस्यवाद का आरंभ होता है ।

---

१ ''अकथ कहानी प्रेम की''... (कबीर)

२ असि सब भांति अलौकिक करणी
महिमाजासु जाहि नहीं बरणी

(मानस - बालकाण्ड)

रहस्यवाद

अर्थ और स्वरुप

रहस्य का अर्थ है 'अज्ञात' जो नहीं जाना गया है । गुप्त है । आदमी की सामान्य समझ के परे की जो स्थिति है उसे रहस्य कहते हैं और जगत् का सबसे बड़ा रहस्य है ईश्वर । जिसे हम परमशक्ति परमतत्व, या परमात्मा कहते हैं । जिसने सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कार्यक्रम बनाकर सारे विश्व को दिग्मूढ़ कर दिया है, परम चेतना के कई राज़ ऐसे हैं आजतक राज़ राज़ ही रहा है और उस शक्ति के प्रति जो प्रेम और भक्तिभाव है उसे ही रहस्यवाद कहा गया है ।

इस रहस्यमयी शक्ति को पाने के लिये और पाने के बाद उस आनंद को प्रकट करने के लिये सदियों से लेकर आजतक कई मनिषियों, दार्शनिकों, साधकों, कवियों और भक्तोने प्रयत्न किया है परंतु फिर भी वह शक्ति, ब्रह्म अथवा परमतत्व तो अदृश्य, अगम्य और अज्ञेय रहा है ।

चिंतको ने उस परम तत्व को मन, बुद्धि और इन्द्रियों से परे बताया। परंतु परम प्रेम की अनुभूति के रुप में स्वीकारा भी गया[१] ।

---

१ ''राम अगम्य बुद्धि मन बानी'' – मानस

विविध विद्वानों के मत से रहस्यवाद की परिभाषा

१) ''रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्निहित प्रकृति का प्रकाशन है, जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल संबंध जोड़ना चाहती है । और यह संबंध यहां तक बन जाता है कि दोनों में कोई अन्तर नहीं रह जाता ।''

– डॉ. राजकुमार वर्मा

२) ''चिंतन के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है – भावना के क्षेत्र में वही रहस्यवाद है ।

(चिंतामणि–भाग:२ निबंधसंग्रह)

३) ''रहस्यवाद अर्थात् हृदय की दिव्य अनुभूति'' – श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय।

४) ''रहस्यवाद अर्थात् रहस्य अनुभूतियाँ'

– डॉ. त्रिगुणायन ।

५) ''रहस्यवाद शब्द काव्य की एक धारा विशेष को सूचित करता है । वह प्रधानतः उसमें लक्षित होनेवाली उस अभिव्यक्ति की ओर संकेत करता है, जो विश्वात्मक सत्ता की प्रत्यक्ष, गंभीर एवं तीव्र अनुभूति के साथ सम्बन्ध रखती है ।

– श्री परशुराम चतुर्वेदी ।[1]

---

१ एकनिबंध – गणपति चंद्रगुप्त – रहस्यवाद और हिन्दी काव्य

६) – ''बिलकुल साधारण भाषा में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि काव्य में आत्मा और परमात्मा के प्रेम की व्यंजना को रहस्यवाद कहते हैं ।

– गणपतिचंद्र गुप्त[1]

७) ''जब निर्गुण भक्ति में माधुर्यभाव का समावेश होता है तब रहस्यवाद का उदय होता है । रहस्यवाद माधुर्य भाव की निर्गुण भक्ति ही है ।

– डॉ. तारकनाथ बाली[2]

८) ''रहस्यवाद हृदय की वह दिव्य अनुभूति है जिसके भावावेश में प्राणी अपने असीम और पार्थिव अस्तित्व से उस असीम एवं पूर्ण 'महाअस्तित्व' के साथ एकात्मकता का अनुभव करने लगता है । वस्तुतः अखंड और व्यापक चेतन के प्रति कवि का आत्मसमर्पण भाव ही काव्य में रहस्यवाद का मूल उत्स है ।

– श्रीगंगाप्रसाद पांडेय ।[3]

---

१ हिन्दी साहित्यिक निबंध पृ. ४७१

२ हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ. नगेन्द्र पृ. १३६

३ छायावाद के आधारस्तम्भ पृ. २३

इन सारी परिभाषाओं के देखने के बाद एक बात तो सर्वसामान्य रुप से स्पष्ट होती है कि भारतीय चिंतन में जिसे निर्गुण या परमतत्व कहा है, शंकराचार्यने जीभर के जिस अद्वैत की महिमा गाई है और गीताने जो परम की प्राप्ति के परमानंद को 'अपरोक्षानुभूति' कहकर सराहा है । वही सारी बातें रहस्यवादी दार्शनिक कवियों ने रहस्यमय काव्य भावों के द्वारा प्रकट की है और परम सत्ता से अभिभूत होकर अथवा धन्यवाद हेतू जो प्रेमवश होकर प्रेममय शब्द निकला है उसी अभिव्यक्ति प्रवाह और परंपरा को रहस्यवाद कहा गया है ऐसा कहने में कोई अत्युक्ति नहीं होगी ।

वेद में रहस्यवाद

रहस्यवाद यह कोई आजकल की उपज नहीं है, परंतु इस रहस्य की चर्चा परापूर्व से की गई है । परम तत्व को जानने की जिज्ञासा वृत्ति हमारे आर्षद्रष्टाओं की भी रही है और वह भी सृष्टिलीला से अभिभूत होकर पूछ बैठता है[१] कि कौन ठीक ठीक जानता है ? और यह सच सच बता सकता है कि इस सृष्टि का उद्‌भव कहां हुआ, कैसे हुआ, और कब हुआ ?

---

१ को अद्धावेद ! का इह प्रविचतः कृत आजाता कृत इयं विसृष्टिः ?
अर्वाग्देवा अस्यविसर्जनेनाथा, को वेद यक आबभूव ।
इयं विसृष्टियेत आबभूव, यदि वा दधे यदि वान ।
यो अस्याध्यक्ष परमे व्योमेन् सो अंग वेद व्यदि वा न वेद ।
(ऋग्वेद - १०/१२९/६-७) नासदिय सूक्त ।

सृष्टि का निर्माण स्वतः ही हुआ या किसी ने किया ? यह सब कुछ वह अन्तरिक्षवासी ही जानता है या वह जानता है या नहीं – किसे पता ?

इस प्रकार हमारे वेदों के ऋषियों की जिज्ञासा से रहस्यवाद का आरंभ होता है – और फिर उपनिषदकारों ने वही परम रहस्यमय परमात्मा का रहस्यमय वर्णन करके भी उसे शब्दातीत बताकर अपनी असमर्थता प्रकट की है ।

उपनिषद् में रहस्यवाद

उपनिषद्कारने ब्रह्म को जन्मरहित, निद्रारहित, स्वप्नशून्य, नामरुप से रहित, नित्य प्रकाशरुप और सर्वज्ञ कहा ।[1]

परमतत्व को सब प्रकार से वाग्व्यापार से रहित, चिन्तन से ऊपर, अत्यन्त शांत, नित्यप्रकाश, समाधि स्वरुप, अचल और निर्भय कहा ।[2]

---

१ अजमनिद्रमस्वप्नमनामकमरुपकम् ।
सकृद्विभातं सर्वज्ञं नोपचारः कथंचन ।

२ सर्वाभिलाष विगतः सर्वचिन्ता समुत्थितः ।
सुप्र शान्तः सकृज्ज्योतिः समाधिरचलोऽभयः ॥

माण्डूक्योपनिषद् – ३/३६-३७

केनोपनिषद् ने भी परमसत्ता की प्रशंसा करते हुए कहा कि जो वाणी से प्रकाशित नहीं है, किन्तु जिससे वाणी प्रकाशित होती है उसी को तू ब्रह्म जन, जिस इस (देशकालविच्छिन्नवस्तु) की लोक उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है ।[1]

वही ब्रह्म को साधक प्रेमानुभव से जान सकता है, परंतु वाणी से पर तत्व के लिये वह कहता है कि "मैं न तो यह मानता हूँ कि ब्रह्म अच्छीतरह जान गया और न यही समझता हूं कि उसे नहीं जानता । इसलिये मैं उसे जानता हूँ और नहीं भी जानता । हम शिष्यों में से जो इस प्रकार जानता है वही जानता है ।"[2]

उपरोक्त बात से एक बात तो और स्पष्ट हो जाती है कि वेदांती हो या "मसी कागद छूयो नहीं कलम गही नहीं हाथ" कहनेवाला कबीर हो परंतु दोनों की रहस्यानुभूति की यात्रा समान है ।

---

१ यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।

कठोपनिषद् - १/६/४

२ नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च ।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ।

कठोपनिषद् - २/८/२

रहस्यवाद की लाक्षणिकताएँ

रहस्यवाद के प्रमुख तीन लक्षण है -

१) निर्गुण अथवा अद्वैतवादी विचारधारा[१]

२) परमतत्व के साथ परम प्रेमानुभूति[२]

३) उस अनुभूति को भाषा के माध्यम से प्रकट करने का प्रयास ।[३]

कबीर आदि रहस्यवादी कवियों के काव्य का प्रमुख स्वर निर्गुण की अनुभूति ही हैं और यह वेदांत का सीधा प्रभाव है । कबीर में जो रहस्यवाद मिलता है वह बहुत कुछ उन पारिभाषिक संज्ञाओं के आधार पर है जो वेदान्त और हठ योग में निर्दिष्ट है ।'[४]

अर्थात् हम कह सकते हैं कि निर्गुण भक्ति के आलोक में रहस्यवाद का अध्ययन करने का उसका स्वरुप स्पष्ट हो जाता है । निर्गुण भाव में माधुर्यभाव के मिलन से नायक और नायिका के रूप में साधक और साध्य की परिकल्पना अनिवार्य हो जाती है और फिर अदृश्य के प्रतिप्रेम विरहनूभूति आश्चर्यभाव से शब्द रूप में प्रकट होती है ।

१/२/३ - हिन्दी साहित्य का इतिहास - डॉ. नगेन्द्र पृ. १३६, १३७, १३८, १३९

४ हिन्दी साहित्य का इतिहास - आ.रा.च. शुक्ल । पृ. ५२

५ रहस्यवादी सत्ता काव्य में भी है और दर्शन में भी । काव्य के रहस्वयावद का प्राण भाव है और उसका उद्गम स्त्रोत हृदय है । दर्शन के रहस्यवाद का प्राण ज्ञान है ......। कबीर की उलटबांसीयों में इसी रहस्यवाद का स्वरूप निहित है ।...... और आश्चर्य के भाव के अतिरिक्त एक भाव और रहस्यवादी कविता का जन्म दाता है, वह है आत्मा की परमात्मा से विरह भावना ।

छायावाद के आधारस्तंभ - गंगाप्रसाद पाण्डेय पृ. २२-२३

निर्गुण विचारधारा का स्वीकार

निर्गुण भक्ति का मूल तत्व है – निर्गुण–सगुण से परे अनादि, अनन्त, अनाम, अजात ब्रह्म का नाम–जप । 'नाम' ही भक्ति और मुक्ति का दाता है, निर्गुणभक्ति का द्वितीय मूलतत्व है मानसिकभक्ति । सन्त मत के अनुसार भक्ति आडंबरविहीन होती है । इसलिये नवधा भक्ति में कर्मकाण्ड – सम्मत तथा परम्परा – समर्थित रुप नहीं मिलता । साधना मार्ग को व्यावहारिक एवं सरल स्वरुप प्रदान करने में सन्तमत की सार्थकता है । इस भक्ति पद्धति का तृतीय मूल तत्व है – प्रेम के माध्यम से कर्मकाण्ड की अपेक्षित दुरुहताओं को दूर करना । और निर्गुण भक्ति का चतुर्थ एवं सबसे महत्वपूर्ण तत्व है – मानव को एक ऐसे विश्वव्यापी धर्म सूत्रों में निबद्ध करना जहां, जाति, वर्ग और वर्ण संबंधी भेद न हो । साधना का यह मार्ग सबके लिये उन्मुक्त हो और पंचम तत्व है सहज साधना । सन्तों की भक्ति प्रणाली आनंद और शांति से संयुक्त शुद्ध अंतःकरण की वह स्वाभाविक शक्ति है जहां कृत्रिमता स्वतः विलीन हो जाती है । सहज साधना का यह मार्ग सर्वथा अभिनव और क्रान्तिकारी था । इसने धार्मिक जीवन की दुरुहता को सदैव के लिये हटा दिया [१]।

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास नगेन्द्र पृ. १३९

प्रेम का स्वरुप और रहस्यवाद में इसकी अभिव्यक्ति

हमारे चिंतकों और कवियों ने परम प्रेम को सूक्ष्मातिसूक्ष्म बताते हुए उस परम रहस्य का उद्‌घाटन शब्द द्वारा करने का बालप्रयास किया है –[१] ''प्रेम की धारा आसमान से भी ऊँची बहने वाली और रसातल से भी गहरी है। हिमालय से भी ज्यादा शीतल और आग से ज्यादा जलानेवाली है। ज़हर से भी कटु और अमृत से भी मीठी है, अणु से भी सूक्ष्म और सुमेरु से भी भारी है, – ऐसी प्रेम की (परमात्मा के प्रति दिव्य प्रेम की अनुभूति) धारा को जाननेवाले ही जान सकते हैं, अन्जान लोग – अर्थात् ऐसे परम अनुभूति से जो वंचित है वे लोग ऐसी बातों को मानने के लिये भी तैयार नहीं होते हैं।

---

१ अंबरते अति ऊँची है
    और ऊँडी रसानत हूँते अथारी
तू ही न कागिरिते अति सितल पावकते
    अति जारन हारी
माहूरुते कहु मीठी सुधा हुति
    जीजी अणु से सुमेरु से भारी
जानही जान अजान न मानत
    सागर स्नेह ही बात है न्यारी।
                    – 'प्रवीण सागर' से संग्रहित सवैया।

इस प्रकार परमात्मा का रहस्य आज तक रहस्यमय ही रहा है और जहां कलम कागज़ अपाहिज़ हो जाते हैं और साधक के शब्द स्वयं उस निर्गुण को स्पष्ट करने में लड़खड़ाने लगते हैं, ऐसी स्थिति को कबीर ''गूंगे का गुड़'' कहकर छूट जाते हैं। परम सत्ता और उस सत्ता के प्रति प्रेम की बात बिलकुल न्यारी है और अकथनीय है।

प्रवीण सागर में कहा है कि - प्रेम की इस न्यारी बात को कोई कह नहीं सकता जैसे कि बाँझ प्रसवपीड़ा को नहीं समझ सकती, चीनी के स्वाद का गधे को कुछ पता नहीं चलता, ग्रीष्म के ताप का मछली को कुछ परिचय नहीं होता और उल्लू को सूर्यप्रकाश का, वेश्या को सतीत्व क्या है - इस बात का कोई बोध नहीं होता और षंढ को रतिक्रीड़ा का क्या पता ? कायर को समर की भयंकरता का कोई अनुभव नहीं होता, वह घाव तो जिन्हें लगे हो वही समझ सकते हैं[1]। वैसे ही पंडित लोग भी प्रेम के रुप को नहीं पा

---

१ सखी सर्वते स्नेह की बात न्यारी
कथे से कथी जाई नहीं अपारी
लीखे कोई ज्ञाता हृद में बिचारी
नहीं और जाने सवै देह धारी,
प्रसु की कहा पीर को बांझ जाने
कहां स्वाद चीनि गधा ही पीछाने
कहां ग्रीष्म के ताप को मीन जाने
कहां सूर के तेज को धू कजाने ?
कहां लासिका रीत जाने सती की।
कहां षंढजाने कला ही रतिकी
लगे घावकी पीर सो घाव जाने।
नहीं कायरं कायमाहीं पीछाने।
नहीं पंडिता प्रेम को रुप पावै
सीखायो नहीं चित्तमें सोई आवै
कहीं शास्त्र में शोधते प्रेम नाहीं।
रहे प्रेम अंशी तनुमें सदाई।

- प्रवीण सागरमें से संग्रहित कविता।

सकते हैं । क्योंकि यह शब्द का विषय नहीं है, न हीं पंडिताई का या विद्वता का । यह तो हृदय का और भाव का विषय है । इस परम प्रेम को कोई सिखा भी नहीं सकता है और सिखाने से कोई सीख भी नहीं सकता है वह एक स्वयं बोध और सहानुभूति की बात है । शास्त्र में ढूंढने से भी इस प्रेम की प्राप्ति नहीं हो सकती । क्योंकि यह प्रेम स्वरुप परमात्मा तो व्यक्ति के साधक के प्रेमी के हृदय में रहता है । यह भीतरी तत्व और अनुभूति बाहर कैसे प्राप्त होगी ? और इस परम रहस्य को पाकर जगत को फटकारने वाले कबीर, दुनिया पर तीखे व्यंग्य करनेवाले कबीर अंत में तो प्रेम की ही शरण लेते हैं जहां 'नेति' 'नेति' का भाव आ जाता है ।[1]

---

१ पोथी पढ़ी पढ़ी जगमूआ, पंडित हुआ न कोई,
ढ़ाई आखर प्रेम के पढ़े सो पंडित होई । – कबीर

रहस्यवाद का वर्गीकरण विविध धाराओं के आधार पर

वेद और उपनिषद् के बाद के धार्मिक आध्यात्मिक साहित्य में भावात्मकता का स्थान बढ़ गया। अद्वैतवाद के स्थान पर अर्थात् निर्गुण के स्थान पर सगुण भक्ति की स्थापना हुई। भक्ति सूत्र और पौराणिक ग्रंथों का महत्व बढ़ा और रहस्यवादी चिंतनधारा शिथिल हो गई।

पुनः आठवीं - नवीं शती में शंकराचार्यजीने मानो अद्वैत का पुनरोद्धार किया, परंतु परवर्ती आचार्यों ने विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत और द्वैताद्वैत मतों की स्थापना करके अद्वैत मतका खंडन किया।

बाद में सिद्धपंथियों में थोड़ा रहस्य का दर्शन होता है परंतु इसे रहस्यवाद नहीं मुक्तिवाद कहना चाहिए, क्योंकि उसकी रहस्य पद्धति में नारी के स्थूल शरीर को ज्यादा महत्व दिया गया - उसमें आत्मा और परमात्मा की अद्वैतता मालूम नहीं पड़ती थी।[१]

बाद में नाथ - पंथियों में अवश्य आध्यात्मिक एकता का निदर्शन हुआ है, किन्तु उनकी इस एकता का साधना भावना न होकर योग साधना है। भावात्मक अनुभूति के बिना किसी भी अद्वैत साधना को रहस्यवाद का नाम नहीं दिया जा सकता। फिर भी गोरखनाथ जैसे कुछ अपवाद रुप संत व्यक्तिगत रुप से रहस्यवादी ज़रुर थे।

चौदहवीं पंद्रहवीं सदी में भारतीय संतो द्वारा रहस्यवाद का प्रवर्तन मुख्य दो धार्मिक संप्रदायों के योग में हुआ। एक-नाथ पंथी और दूसरा वैष्णव।[२]

---

१ साहित्यिक-निबंध गणपतिचंद्रगुप्त पृ. ४७४

२ वही पृ. ४७४

निर्गुण और सगुण दोनों भक्ति धाराओं में रहस्यवाद का दर्शन होता है परंतु रहस्यवाद का मूल तत्व ही अद्वैतभाव या निर्गुणभक्ति है । इसलिये स्वाभाविक है कि निर्गुण परंपरा में रहस्यवाद का प्रभाव ज्यादा रहा है।

निर्गुण परंपरा (निर्गुणधारा)

निर्गुणधारा की दो उपधाराएँ है । ज्ञानमार्गी शाखा और प्रेममार्गी शाखा। ज्ञान मार्ग के प्रमुख रहस्यवादी संत है कबीर, नानक, दादू आदि । और प्रेम मार्ग अथवा सूफी संप्रदाय के प्रमुख कवि है जायसी, मंझनबनकूत बन आदि ।

सगुण परंपरा (सगुणधारा)

सगुण परंपरा में भी दो शाखाएँ निकलीं है, कृष्णभक्ति परंपरा और रामभक्ति परंपरा । रामभक्ति परंपरा के प्रमुख संत श्री तुलसी दासजीने समन्वय की भावना से सगुण और निर्गुण दोनों की बात अपने साहित्य में बताई है और जहां जहां निर्गुण या अद्वैत की बाते आई हैं वहां वहां हमें रहस्यवाद का दर्शन होता है । कृष्ण भक्ति धारा में रहस्यवाद का कोई खास स्थान नहीं है क्योंकि कृष्णभक्त संतो और कवियों ने कृष्ण के सगुण का स्वरुप विविध की लीलाओं को केंद्र में रखकर ही साहित्यसृजन किया है ।

कबीर :- हिन्दी के प्रथम रहस्यवादी कवि होने का गौरव संत कबीर को ही प्राप्त होगा । यद्यपि वे ज्ञानमार्गी हैं ऐसी मान्यता होने पर भी वह शुद्ध प्रेममार्ग के ही पथिक हैं, अथवा ऐसा कहना चाहिए की उन्होंने ज्ञान और प्रेम का संमिश्रण किया अथवा ज्ञान के उपर प्रेम की सर्वोपरिता को स्वीकार किया ।[१]

कबीर का प्रेम अलौकिक प्रेम था, आत्मा और परमात्मा का अद्वैतमूलक प्रेम था, प्रेम के दोनों पक्ष मिलन और विरह उनके काव्य में प्रकट होते है । विरह-वेदना की तीव्रतम अवस्था का अनुभव उनके मुक्तको में झलक रहा है ।[२]

---

१ सीस काटि पासंग दिया जीव सर भरि लीन्ह ।
जाहि भावै सो आइल्यो, प्रेम हाट हमे कीन्ह ।

– कबीर

२ बिरिहन उभी पंथ सिरि, पंथी बूझैं धाई ।
एक सबद कहि पीव का, कबर मिलैंगे आई ।
चोट सताँणी विरह की, सब तन जर-जर होई ।
मारणहारा जाणि है, कै जिहि लागी सोई ॥
आंखडियाँ साँई पड़ी, पंथ निहारि निहारि ।
जीभड़िया छाला पड़या, राम पुकारि पुकारि ॥
आई न सकौं तुझ पै, सकूँ न तुज्झ बुलाई ।
जियरा मौंही लेहुगे विरह तपाई तपाई ।
मन परतीति न प्रेम रस, ना सूँ इस तन में ढंग ।
क्या जावौं उस पीव सुँ, कैसा रहसी रंग ॥

– कबीर

रहस्यसम्राट कबीर विरहवेदना के बाद ईश्वर साक्षात्कार की मंगल घड़ी की बधाई भी गाता है और इस प्रकार मिलने के आनंद को शब्दों द्वारा अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करते हैं ।[1]

मिलन की इन मधुरतम घड़ियों का आख्यान उन्होंने मनभर के किया है । किन्तु फिर भी उन्हें संशय है कि अपने हृदय के उमंग और उल्लास को वह शब्द द्वारा ठीक प्रकार से अभिव्यक्त कर सकेंगे या नहीं और अंततः इस रहस्यानुभूति के परम आस्वादन के संबंध में कह दिया कि यह कोई बताने की बात नहीं, वह तो ''गूंगे का गुड़'' है ।

---

१ दुलहिन गावहु मंगलचार
हम घरि आए हो राजा राम भरतार ।
बहुत दिनत थै मैं पीतम पाये, भाग बढ़े घर बैठ आये ।
मंगलचार माँही मन राखौ । राम रसाइण रसना चाखो ।
कहैं कबीर मै कछु नहीं कीन्हाँ ।
सखी सुहान राम मोही दीन्हा ।

– कबीर

जायसी - सूफ़ीवाद के अनुसार रहस्यवाद

सूफीवाद के प्रमुख कवि और प्रेममार्गी काव्यधारामें जिसका नाम प्रथम पंक्ति में है ऐसे कवि जायसी के पद्मावत में रहस्यवाद का दर्शन होता है। पद्मावत में रहस्यवाद की सामान्य सभी प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती है, जैसे कि - अद्वैतवादी मान्यता, दाम्पत्य प्रेम पद्धति, प्रेम का शुद्ध और दिव्य स्वरुप एवं आत्मसमर्पण उपरांत रहस्यवाद की प्रमुख लाक्षणिकता, निर्गुणमत का निर्वाह, प्रेम के दोनो पक्ष तथा इस स्थिति की अभिव्यक्ति आदि बातें भी देखने को मिलती हैं।

पद्मावत में आत्मा को परमात्मा तक पहुँचने में जितनी कठिनाई होती है और साधक को जो विरह वेदना होती है उसका वर्णन विस्तृत रुप से दिया है। साधना मार्ग में गुरु की आवश्यकता को स्वीकार करके गीता और उपनिषद् की परंपरा को पुष्टि मिलती है तथा साक्षात्कार होता है। इस प्रकार 'रहस्यवाद' के कई अंगो का दर्शन पद्मावत में होता है।[१]

---

१ तन चित्तउर मनराजा किना,
हिय सिंघल बुध पदमिनी छिना।
गुरु सुआ जेई पंथ देखावा,
बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा।
नागमति यह दुनिया धंधा,
बांचा सोई न एहिचित बंधा।
राघव दूत सोई सैतान्,
माया अलाउदीं सुलतानु ॥..... (पद्मावत)

भारत के अतिरिक्त रहस्यवाद

रहस्यवाद का लंबा इतिहास रहा है यह यथार्थवाद एवं प्रत्ययवाद की अपेक्षा प्राचीन है । दर्शन के इस प्रकार के प्रमुख प्रतिनिधियों से कोई भी युग, वहां तक की हमारा भी, विहीन नहीं रहा ।

जब यह चीन में प्रकट हो रहा था तथा भारत में महान विकास को प्राप्त कर रहा था (ब्रह्मवाद-वेदांतवाद) तभी (ई.स. पूर्व छठ्ठीं शताब्दी के आगे) भूमध्यसागरीय पोत में भी यह असाधारण रुप से लोकप्रिय बन गया था । हम अनेक देवताओं के रहस्यों के विषय में सुनते हैं, मिश्र में ओसिरिस, सिरिया में अंडोनिस, युनान (ग्रीस) में डीमीटर, डायोनिसस, ओरफियस फ़ारस (परशीया) तथा रोमन जगत में मिथरा के विषय में चर्चा है । ये रहस्य प्रचलित धर्मों की प्रशाखाएँ थी,[1] और संभवतः महान राष्ट्रीय धर्मों के टूट जाने के कारण थी, और उन्होंनें व्यक्ति को इस योग्य नहीं छोडा कि वह अपनी धार्मिक निष्ठा का अपनी सामाजिक निष्ठा से तादात्म्य स्थापित कर सके, और इन्होंनें उसे बिना जाति, राष्ट्र, लिंग अथवा वर्ण की ओर संकेत करके, किसी सुलभ देवता के रुप में सत् के साथ प्रत्यक्ष व्यक्तित्व संबंध को प्राप्त करने की सबल प्रेरणा दी । और इसके कारण उसे इस जीवन में नैतिक स्थायित्व प्राप्त हुआ । तथा दूसरे जीवन में वैयक्तिक अमरता की आशा बंधी । दार्शनिक रहस्यवाद के साथ मुख्य तया उनकी इस उपासनामें समानता थी कि वे लोग भी नैतिक तैयारी के पश्चात् उमंग की अवस्थाओं में ईश्वर के साथ व्यक्तिगत तादात्म्य में विश्वास करते थे । इनके पहले लोकप्रिय क्रियाकलापों में अत्यंत स्थूलता, अंधविश्वास एवं मूढ़ता विद्यमान थी । बहुधा इनमें पूर्व रुप से बर्बरता होती थी । परंतु इस आंदोलन के जीवंत तत्व इतने विशाल थे कि उन्होंने महान् विचार को और साथ ही साथ राज्य की रुचि पर भी अधिकार प्राप्त कर लिया । एथेन्सने इल्यूसीस के रहस्यों को सार्वजनिक संस्था के रूप में स्थापित कर दिया । एशिया माऑईनर में जब सबसे पहले ईसाई धर्म फैला तो यहां विभिन्न रहस्य प्रचलित थे, पॉल की ईश्वर विद्या, इनसे सबल रूप से प्रभावित हुई । जॉन का सुसमाचार (गॉस्पॅल) एक रहस्यवादी प्रलेख (डोक्यूमेन्ट) है : ''मैं अंगूर की बेल हूँ, तुम उसकी शाखाएँ हो..... मैं तथा पिता एक है ।'' प्लेटो के शिष्य प्लोटिनसने अपने विचार की शक्ति तथा अपने चरित्र की उदात्तता के रहस्य वाद को क्लासिकी जगत के लिये स्पष्ट दार्शनिक अभिव्यक्ति के रूप में ऊँचा उठा दिया ।

प्लोटिनस का प्रभाव बहुत व्यापक था। नव्य-प्लोटिनसवादियों के माध्यम से उसका प्रभाव इलेक्ज़ेन्ड्रिया से होकर उस समस्त जगत् में फैल गया जिसमें शास्त्रीय परंपरा लुप्त होती जा रही थी। इसे अरबी दर्शन को संप्रेषित किया गया, और फिर पुनः पर्शिया के मुसलमान रहस्यवादियों की श्रृंखला में इसको बल मिला... इसने छद्मवेशी डायोनिसीयस को प्रभावित किया जो इसाई रहस्यवादियों की एक लंबी श्रृंखला का जनक हुआ। (जॉन स्काट्स एरिजिना, बरनार्ड ऑव, क्लेचरजो, माइस्टर एकहार्ट, टालर, सूसो, टैरेसा, कूसा का निकोलन, ब्रूनो, सायलीसियस, बोइमे, दांते, विलियम ब्लेक, कोलरिज)।'

इस प्रकार रहस्यवाद ने विश्व के कई देशों को प्रभावित किया है। इसा पूर्व छठी शताब्दीमें चीन का रहस्यवादी लाओत्झे इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि -

जो जानता है वह बात नहीं करता।

जो बात करता है वह जानता नहीं। -और

इस प्रकार 'रहस्यवाद' सभी रहस्यवादी दार्शनिकों को परमतत्व से रहस्य की एक ही अभिव्यक्ति में शाब्दिक परिवर्तन के साथ एक ही श्रृंखला में जोड़ता है।[1]

---

१ दर्शन के प्रकार - विलियम अर्न्स्ट हॉकिंग

परिच्छेद २४५-२४७

रहस्यवाद के भेदोपभेद

विभिन्न विद्वानों ने रहस्यवाद के कई भेद किये हैं। पाश्चात्यविद्वान स्पर्जनने रहस्यवाद के चार भेद बताये हैं। (१) प्रेम और सौंदर्य संबंधी रहस्यवाद (२) दर्शनसंबंधी रहस्यवाद (३) धर्म और उपासना संबंधी रहस्यवाद और प्रकृति संबंधी रहस्यवाद। इसी प्रकार आ. रामचंद्र शुक्लने भी दो प्रकार के रहस्यवाद का उल्लेख किया है (१) साधनात्मक रहस्यवाद और (२) भावात्मक रहस्यवाद।[1] कुछ अन्य आलोचकों ने एक 'साहित्यिक रहस्यवाद' की भी चर्चा की है। हमारी दृष्टि में उपर्युक्त सभी भेद अप्राकृत और अनावश्यक है। रहस्यवाद में अलौकिक प्रेम और अद्वैत दर्शन की सत्ता अनिवार्य रुप से रहती है। अतः प्रेम संबंधी रहस्यवाद और दर्शन संबंधी रहस्यवाद - दोनों को एक दूसरे से भिन्न बताना उचित नहीं। कोरे धर्म, दर्शन या कोरी उपासना या साधना से भी रहस्यवाद की सृष्टि नहीं हो सकती। इन सब में रागात्मकता का पुट होने पर ही रहस्यवाद का विकास हो सकता है। अतः धार्मिक, दार्शनिक उपासनात्मक या साधनात्मक भेद भी भावात्मक रहस्यवाद से भिन्न नहीं है। इस प्रकार रागात्मकता या प्रणय में ही भावात्मकता एवं साहित्यिकता का भी समावेश हो जाता है। अस्तु, उपर्युक्त भेद, भेद न होकर एक ही रहस्यवाद के विभिन्न अंग है, जो समन्वित रुप में साथ साथ विद्यमान रहते हैं।

हाँ, रहस्यवादी कवियों के अवश्य एक दो भेद कर सकते हैं। एक तो वे जो अपने वास्तविक जीवन में पूर्णतः साधक या उपासक होते हैं, जो अपनी साधना के बल पर परमतत्व की अनुभूति प्राप्त करते हैं और उसे स्वाभाविक रुप में अभिव्यक्त कर देते हैं। दूसरे वे हैं जो प्रत्यक्ष जीवन में तो सांसारिकता में मग्न होते हैं, किन्तु विश्राम की कुछ घड़ियों में कल्पना या चिन्तन के बल पर रहस्यवाद की सृष्टि कर लेते हैं। कुछ कवि अपने लौकिक प्रेम को भी अलौकिकता का आवरण डालकर व्यक्त करते हैं, अतः ये भी दूसरी कोटि में आते हैं। इन दोनों प्रकार के कवियों को क्रमशः यथार्थ रहस्यवादी और काल्पनिक रहस्यवादी कहा जा सकता है। प्राचीन संतकवि-कबीर, दादू आदि यथार्थ रहस्यवादी जीवन के अंत तक रहस्यवादी रहते हैं, किन्तु काल्पनिक रहस्यवादिता का रंग समय के साथ फ़ीका पड़ जाता है।[2]

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचंद्र शुक्ल

२ साहित्यिक निबंध - गणपतिचंद्र गुप्त। पृ. ४७२

आत्मा और आत्मा का स्वरुप

आत्मा वेदांत का महावाक्य 'तत्वमसि' में कहे गये 'त्वं' पद का लक्ष्यार्थ है। वह स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीर से भिन्न, पंचकोशों से भिन्न जागृत स्वप्न और सुषुप्ति - तीनों अवस्थाओं का साक्षी और सच्चिदानंदरुप है।[१]

जिस कारण से आत्मा सभी अनात्मक पदार्थो में व्याप्त रहता है और जिस कारण से स्वप्न में स्वयं के प्रकाश से स्वाप्निक पदार्थों को ग्रहण करता है, और जिस कारण से सुषुप्ति अवस्था में अज्ञानता के कार्यरुप समस्त प्रपंच को स्वयं में लीन करता है और जिस कारण से निरंतर अपनी सत्ता अपने में बनी रहती है - उस कारण से उस तत्व को आत्मा कहा जाता है।[२]

---

१ वेदान्त शब्दकोष पृ.२२

२ यच्चाप्नोति यदादत्तं पश्चाति विषयानिह।
यच्चास्य संततो भावस्तस्मादात्मेति कथ्यते ॥

(विविध उपाधि के कारण इस आत्मा के तीन भेद माने गये हैं
(१) गौणात्मा (२) मिथ्यात्मा (३) मुख्यात्मा।

कठ.उप.२/१ शंकरभाष्य

संपूर्ण आत्मा स्वभाव से ही नित्य बोध स्वरुप और सुनिश्चित है – जिसे ऐसा समाधान हो जाता है वह ऐसा अमरत्व प्राप्ति में समर्थ होता है ।[१]

अर्थात् आत्मा नित्यमोक्ष बोधरूप है । निःशंक और अभय है ।

मांडूक्यउपनिषद् के मत से – समस्त आत्मा आवरण शून्य, स्वभाव से निर्मल तथा नित्य बुद्ध और मुक्त है । तथापि स्वामी लोग (वेदान्ताचार्यगण) 'वे जाने जाते हैं' ऐसा उनके विषय में कहते हैं [२]

जिन्हें आवरण अर्थात् अविद्यारुप बन्धन प्राप्त नहीं हुआ है, वे धर्म अर्थात् आत्मा बन्धनरहित, स्वभाव से ही शुद्ध और आरम्भ में ही बोध को प्राप्त हुए तथा मुक्त स्वरूप है, क्योंकि वे नित्य शुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव है।

---

१ आदिबुद्धाः प्रकृत्यैव सर्वे धर्माः सुनिश्चिताः ।
यस्यैवं भवति क्षान्तिः सोऽमृत्वाय कल्पते ।

माण्डू ३५-४/९२

२ अलब्धावरणाः सर्वे धर्मोः प्रकृतिनिर्मलाः ।
आदौ बुद्धस्तथा मुक्ता बुध्यनी इति नायकाः ।

माण्डू ३५-४/३८

बृहदारण्य उपनिषद् में आत्मा को सर्वाधिपति और सर्व का आश्रय माना है ।

यह आत्मा समस्त भूतों का अधिपति एवं समस्त भूतों का राजा है । जिस प्रकार रथ की नाभि और रथ की नेमि में सारे आरे समर्पित रहते हैं, इसी प्रकार इस आत्मा में समस्त भूत, समस्त देव, समस्त लोक, समस्त प्राण और ये सभी आत्मा समर्पित हैं ।[1]

यह जो प्राणों में रहनेवाला बुद्धिवृत्तियों के भीतर रहनेवाला विज्ञानमय ज्योतिस्वरूप पुरुष है वह समान बुद्धिवृत्तियों के सदृश हुआ इस लोक और परलोक दोनो में संचार करता है । वह मानो चिंतन करता है और चेष्टा करता है, वही स्वप्न होकर इस लोक का अतिक्रमण करता है और मृत्यु के रुपों का भी अतिक्रमण करता है ।[2]

---

१ स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानाँ ।
राजा तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौचाराः सर्वे समर्पिता ।
एवमेवा स्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः ।
सर्वे प्राणाः सर्व एक आत्मनः समर्पिताः ।

बृहद् उप–२/५/१५

२ कतय आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु
हृद्यन्तज्योर्तिःपुरुषः स समानः सन्नु भौ लोका
वनु सञ्चरतिध्यायनतीव लोलायतीव स हि
स्वप्नो भूत्वेनं लोकमतिक्रामति मृत्यो रुपाणि ।

बृहद् ३५–४/३/७

ईशावास्य के मत से वह आत्मतत्व अपने स्वरूप से विचलित न होनेवाला, एक तथा मन से भी तीव्रगतिवाला है । इसे इन्द्रियाँ प्राप्त नहीं कर सकती, क्योंकि यह उन सबसे पहले (आगे) गया हुआ (विद्यमान) है । वह स्थिर होने पर भी अन्य सब गतिशीलों को अतिक्रमण कर लेता है । उसके रहते हुए ही वस्तुतः समस्त प्राणियों के प्रवृत्तिरुप कर्मो का विभाग करता है ।[१]

वह आत्मा सर्वगत, शुद्ध अशरीरी, अक्षत, स्नायु रहित, निर्मल, निष्पाप, सर्वद्रष्टा, स्वोत्कृष्ट और स्वयम्भू है । उसीने नित्यसिद्ध संवत्सर नामक प्रजापतियों के लिये यथायोग्य रीति से अर्थो (कर्तव्यों अथवा पदार्थों) का विभाग किया है ।[२]

---

१ अनेजदेकं मनसो जवीयो नैन द्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यातनत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नयो मातरिश्वा दधाति ।

इशा.उप. ४

२ स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम स्नाविरुँ
शुद्धमपायविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः
स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्व
तीक्ष्यः समाभ्यः ॥८॥

इशा उप. ॥८॥

मेधावी आत्मा न उत्पन्न होता है, न मरता है, यह न तो किसी अन्य कारण से उत्पन्न हुआ है और न स्वतः ही कुछ अर्थान्तररूप से बना है। यह अजन्मा, नित्य (सदा से वर्तमान) शाश्वत और पुरातन है, तथा शरीर के नष्ट हो जाने पर भी स्वयं नहीं मरता।[१]

इस प्रकार हमने देखा कि उपनिषदों में आत्मा के स्वरुप का विवेचन बड़े सुंदर ढंग से किया गया है। ऋषियों ने चेतना के चार स्तर बतलाये है। तीन निम्न कोटि के चैतन्यों मे आत्मा का निवास नहीं रहता, परंतु सबसे उच्चकोटि के चैतन्य में आत्मरुप की तात्विक उपलब्धि होती है। शरीर-चैतन्य, स्वप्न चैतन्य तथा सुषुप्ति चैतन्य से सर्वथा पृथक होकर आत्म चैतन्य अपने शुद्ध अमिश्रित रुप से विद्यमान रहता है। इस सिद्धांत को प्रतिपादित करने के लिए छांदोग्य उपनिषद् में (८/७) एक बड़ी रोचक आख्यायिका वर्णित की गई है। देवता तथा असुरोंने आत्मतत्व की जिज्ञासा से प्रेरित होकर इन्द्र तथा विरोचन को प्रजापति के पास भेजा। प्रजापति को बत्तीस वर्ष की कठोर तपस्या

---

१ न जायते म्रियते वा विपश्चि

न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो

न हन्यतो हन्यमाने शरीरे।

कठ.उप. १/२/१८

के अनंतर सिखलाया कि आंख में जल में तथा आदर्श में जो पुरुष दिख पड़ता है वही आत्मा है । विरोचन को इस शिक्षा से संतोष हो गया, परंतु इन्द्र के मन में शंका का उदय हुआ कि सुंदर अलंकारों से शरीर को भूषित करने पर आत्माभूषित प्रतीत होता है, किन्तु क्या शरीर ही आत्मा है ? यदि शरीर तथा आत्मा का तादात्म्य है तो शरीर में अंधत्व, काणत्व आदि दोषों के विद्यमान रहने पर आत्मा में भी इन दोषों को मानना पड़ेगा । इस शंका का निवारण करने के लिये प्रजापति ने स्वप्न चैतन्य को आत्मा बतलाया, परंतु दोष का निरास न हो सका, क्योंकि स्वप्न में हम दुःख का अनुभव करते हैं, आंखों से अश्रुधारा बहाते हैं, परंतु आनंदरुप आत्मा में क्या दुःख का संस्पर्श स्वीकृत किया जा सकता है ? इन्द्र के पुनः आने पर प्रजापतिने सुषुप्ति काल में विद्यमान चैतन्य को आत्मा बतलाया परंतु विचार करने पर इन्द्र के मन में शंका का पुनः उदय हुआ, सुषुप्ति काल में न तो अपनी सत्ता का ज्ञान रहता है और न बाह्य वस्तुओं का, उस समय तो जीव काठ के कुंदे की तरफ चैतन्य हीन प्रतीत होता है । इतनी शंका करने पर अंत में प्रजापति ने वास्तविक तत्व को समझाया कि तीनों चैतन्यों से पृथक् भूत जो उपाधिविरहित शुद्ध चैतन्य है, आत्मातद्रूप ही है, आत्मा स्वचैतन्यरुप है । भिन्न भिन्न दार्शनिकों ने इनमें से भिन्न भिन्न चैतन्य को ही आत्मा बतलाया है, परंतु वास्तविक आत्मा इन सबसे भिन्न शुद्ध चैतन्यरुप है ।[१]

---

१ भारतीय दर्शन पृ. ५५२

अहंकार

अंतःकरण की चार वृत्तियों में से एक जो ''मैं'' ऐसा अभिमान करती है वह अहंकार होता । इस अहंकार के प्रकार निम्न लिखित है ।

अहंकार के प्रकार

(१) शुद्ध अहंकार :- यह स्वरुप का अहंकार है । जैसे कि मैं ब्रह्मरुप हूँ ।

(२) अशुद्ध अहंकार :- देहादि अनात्मकता अहंकार, जैसे मैं शरीर हुं । मनुष्य हुँ आदि ।

(३) सामान्य अहंकार :- ''मैं'' - ऐसी सामान्य अहंकार की वृत्ति ।

(४) विशेष अहंकार :- ''मैं ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हुँ'' - इत्यादि स्फुरणरुप चित्तवृत्ति।

अहंकार के और भी दो प्रकार माने गये हैं । (१) मुख्य अहंकार (२) गौण अहंकार ।

(१) मुख्य अहंकार :- कूटस्थ (साक्षी), चिदाभास और देह आदि को एक समझकर अज्ञानी को समस्त समुदाय में 'अहम्' शब्द के संबंध को जोडकर जो 'अहम्' की स्फुरणा होना । शक्तिवृत्ति से जानने योग्य 'अहम्' शब्द के अर्थ को विषय करनेवाला अहंकार ।

(२) विवेकी पुरुष को व्यवहार दशा में (१) देहादि सहित चिदाभास में और (२) परमार्थदशा में केवल 'कूटस्थ' में 'अहम्' शब्द का संबंध करके जो अहं की स्फुरणा होना वह, अर्थात् लक्षणावृत्ति से जानने योग्य अहं शब्द के अर्थ का विषय करनेवाला अहंकार ।[1]

---

१ वेदान्तशब्दकोष - पृ. १८-१९

अहंकार जीव के बंधन का मूल कारण है । गीता के अनुसार वह दो तरह का बताया गया है ।

अपरा (जड़) प्रकृति का धातुरुप अहंकार इसको अहंवृत्ति (वृत्तिरुप समष्टि अहंकार) भी कहते हैं ।[१]

चेतन के द्वारा अपरा प्रकृति के साथ माने हुए सम्बन्ध से होनेवाला तादात्म्यरुप अहंकार । इसको चिज्जड़ग्रन्थि (ग्रंथिरुप व्यष्टि अहंकार) भी कहते हैं ।[२]

धातुरुप अहंकार में कोई दोष नहीं है, क्योंकि यह अहंकार मन, बुद्धि इन्द्रियाँ आदि की तरह ही है । इसलिए संपूर्ण दोष तादात्म्यरुप अहंकार में अर्थात् देहाभिमान में ही है ।

''देहाभिमानिः सर्वे दोषाः प्रादुर्भवन्ति''

जीवनमुक्त तत्वज्ञ भगवत्प्रेमी महापुरुष में तादात्म्यरुप अहंकार का सर्वथा अभाव होता है, अतः उसके कहलानेवाले शरीर के द्वारा होनेवाली संपूर्ण क्रियाएँ धातुरुप अहंकार से होती है ।

इस धातुरुप अहंकार से होनेवाली क्रियाओं को गीता में कई प्रकार से बताया गया है । जैसे संपूर्ण क्रियाएँ प्रकृति द्वारा होती है ।[३] प्रकृति के गुणद्वारा ही संपूर्ण क्रियाएँ होती है ।[४] गुण ही गुणों में बरत रहे हैं[५] गुणों के सिवाय अन्य कोई कर्ता नहीं है[६] इन्द्रियाँ ही अपने अपने विषयों में बरत रही हैं ।[७]

---

१ गीता ७/४, १३/५

२ गीता १३/२९

३ गीता ३/२७

४ गीता ३/२४

५ गीता १४/२३

६ गीता १४/१९

७ गीता ५/९

परंतु जड़ प्रकृति के कार्य शरीर को अपना स्वरुप मान लेने के कारण मनुष्य अज्ञानवश अपने को उन क्रियाओं का कर्ता मान लेता है और बंध जाता है ।[1]

तादात्म्यरुप अहंकार से (में हूं) से परिच्छिन्नता (एकदेशीयता) आती है । परिच्छिन्नता आते ही इस अहंकार के कई भेद हो जाते हैं । वर्ण, आश्रम, शरीर, अवस्था, योग्यता, संबंध, व्यवसाय, धर्म, उपासना आदि को लेकर अहंकार के सैंकड़ों हजारों भेद हो जाते हैं ।

संपूर्णसृष्टि त्रिगुणात्मक है ।[2] भागवत् में अहंकार को तीन प्रका का बताया गया है । - सात्विक - राजस और तामस । अतः सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के जितने भी भेद सृष्टि में पाये जाते हैं, वे सब अहंकार में ही है । जब तक अहंकार रहता है, तब तक साधकों में भी उनके साधनों में भेद रहता है । परंतु तत्व की प्राप्ति होने पर भेद नहीं रहता । दार्शनिकों में और दर्शन में भी जो भेद है (न्याय, वैशेषिक सांख्य मीमांसा आदि) ये भी सब अहंकार हेतु है । जिनमें अपने अपने आग्रह है, खंडन-मंडन की वृत्ति है । सच्चेतत्वज्ञानमें अहं नहीं होता, तत्व में अहं नहीं है और अहं में तत्व नहीं है ।[3]

---

१ अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिनि मन्यते ॥ गीता - ३/२७

२ मायो सा त्रिविधा प्रोक्ता सत्व-राजस तामसी - कृष्णोपनिषद्

३ साधन सुधा सिन्धु पृ. ८७

लौकिक अहंकार

जब मनुष्य का उद्देश्य असत् भोग और संग्रह को प्राप्त करने का हो जाता है, तब उसमें ''मैं संसारी हूँ''[४]– लौकिक अहंकार रहता है । ऐसा अहंकार दृढ़ होने पर मनुष्य निरंतर संसारी रहता है । सांसारिक कार्य करते समय तो वह संसारी रहता ही है, साधन करते समय भी वह संसारी ही रहता है । इसलिये वह जो भी साधन करता है और वह साधन उसमें साधकमन का अभिमान बढ़ानेवाला होता है ।

जब मनुष्य में भोग भोगने और संग्रह करने की प्रवृत्ति अधिक हो जाती है तब उसमें स्वार्थ और अभिमान आ जाते[१] है, जो आसुरी संपत्ति है । स्वार्थ और अभिमान आने से उसका अहंकार आसुरी संपत्तिवाला हो जाता है ।[2]

– और आसुरी संपत्तिवाला अहंकार भयंकर नरक में ले जाता है ।[3]

---

१ अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः गीता– १६/१८

२ 'दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः' गीता–१७/५

३ 'पतन्ति नरकेऽशुचै ।' गीता–१६/१६

अहंकार की उत्पत्ति अविद्या से

अहंकार की उत्पत्ति अविद्या से होती है ।[1] आसुरी सम्पत्तिवाला अहंकार तादात्म्यरुप अहंकार का ही स्थूलरुप है, जो जीवमात्र में रहता है । इसी तादात्म्य अहंकार को लक्ष्यकर के भगवान श्रीकृष्णने अर्जुन को कहा है[2] – जो तूं अहंकार के वश होकर मेरे वचनों को नहीं सुनेगा तो नष्ट हो जायेगा ।

– अहंकार का अवलंबन करके तु ऐसा मान रहा है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा...[3]

अविद्या अहंकार की जाननी है इसे मिटाने के लिये एकमात्र साधन है ज्ञान । ज्ञान से अविद्या मिट जाती है और अविद्या के मिट जाने से अहंकार स्वतः मिट जाता है ।

ज्ञानप्राप्ति में अहंकार रहित होना अनिवार्य

भारतीय दर्शन और वेदांत दर्शन की सार रुप गीता में जहां जहां ज्ञान की और ज्ञान के साधनों की बात आई है वहां भगवानने अहंकार से रहित होने की बात कही है ।[4]

जब साधक से भी यह अहंकार दूर हो सकता है तो फिर सिद्ध होने पर यह कैसे होगा ? सिद्ध होने पर तो तादात्म्यरुप अहंकार का सर्वथा नाश हो जाता है । भगवानने गीता में कर्मयोग में ज्ञानयोग में और भक्तियोग में तादात्म्यरुप अहंकार के नाश की बात ही कही है ।

---

१ अविद्यास्मितारागद्वेषा भिनिवेशाः क्लेशाः
अविद्या क्षेत्रपुत्तरेषां..... (योगदर्शन – २/३-४)

२ अथ चेत्वम हङ्कारान्न श्रेष्यसि विनङ्क्ष्यसि । गीता – १८/५८

३ यद्हङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यते....गीता १८/५९

४ अनहङ्कार एव च (गीता १३-८), निर्ममो निरहङ्कारः (२/७३),
अहङ्कार...... विमुच्य निर्ममः (१८-५३), "निर्ममो निरहङ्कारः" (१२-१३)

पारमार्थिक अहंकार ।

जब मनुष्य का उद्देश्य केवल सत्-तत्व को प्राप्त करने का हो जाता है, तब यह उसकी प्राप्ति के लिये ''मैं साधक हूँ'' - इस पारमार्थिक अहंकार को लेकर साधन करता है । मैं साधक हूँ - यह अहंकार मुक्त करनेवाला है ।[१-२]

साधन की साध्य से और साधक की साधन से एकता हो जाती है तब परमात्म तत्व की प्राप्ति होती है । परंतु जबतक साधक में अहंकार रहता है तब तक यह संभव नहीं होता । साधनभेद से कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग - ये तीन भेद भी अहंकार के कारण ही होते हैं । साधक ज्यों ज्यों साधना से आगे बढ़ता है त्यों त्यों अहंकार मिट जाता है । प्रत्येक योग में अहंकार के रहते हुए भी साधन किया जा सकता है और योग सिद्ध हो जाने पर अहंकार खो जाता है । कर्मयोग में सिद्धि के बाद अहं शुद्ध हो जाता है, ज्ञानयोग में ब्रह्म में मिल जाता है और भक्तियोग में अहं बदल जाता है किन्तु वस्तुतः यह एक ही बात है ।

कर्मयोग की सिद्धि से कर्मयोगी 'अकर्म' का अनुभव करता है, ज्ञानयोग की सिद्धि से ज्ञानयोगी ज्ञातज्ञातव्य (जानने के लिये कुछ भी शेष नहीं रहा) हो जाता है और भक्तियोगी भक्तियोग की सिद्धि से प्राप्त प्राप्तव्य होकर आत्मा और परमात्मा के भेद को मिटा देता है ।

१-२ अस अभिमान जाई जनि भोरे

मैं सेवक रघुपति पति मोर - मानस-सुंदरकांड

'दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य - वा.रा.

अहं और आत्मा

आत्मा सर्वथा अहंकार के रहित है । सत्तामात्र अर्थात् केवल होनेपन ही आत्मा का स्वरूप है । इस सत्ता के सिवाय और सबका अभाव है । जितना देखने, सुनने और समझने में आता है तथा जिन यन्त्रों से देखते हैं, सुनते हैं समझते हैं ये सब क्षणभंगुर है । परंतु स्वतः सिद्ध सत्ता का (आत्मा का) क्षणमात्र भी अभाव नहीं होता है, न हुआ है और न हो सकता है ।

आत्मा अर्थात् जो होनापन है उसमें ''मैं'' नहीं और ''मैं'' हूँ उसमें होनापन नहीं है । जितने भी विकार है सब मैं पन में है । स्वरुप में नहीं । सर्वसत्तारुप स्वरुप हंमेशा निर्लिप्त है । वह हंमेशा निर्विकार है, निर्विकारी रहना वह उसका स्वभाव है । स्वतः सिद्ध सत्ता में कर्तुत्व है न भोतृत्व है[१] न करना है न करवाना है [२] ।

भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं कि 'पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ये पंचमहाभूत तथा मन, बुद्धि और अहंकार यह आठ प्रकार के भेदोंवाली अपरा प्रकृति है ।[३]

---

१ 'न करोति न लिप्यते' (गीता १३-२१)

२ 'न कुर्वन्न कारयन्' (गीता ५-१३)

३ भूमिरापोऽनलोवायुः खं मनोबुद्धिरेव च ।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृति अष्टधा ।। (गीता ७/४)

तात्पर्य यह है कि ये सब एकजाति के हैं । अर्थात् अहंकार भी जड़ तत्व है । जिस प्रकार पुरुष अर्थात् आत्मा सर्वथा है । आत्मा कभी मिटती नहीं, प्रकृति चाहे मिट जाये । अर्थात् अष्टधा प्रकृति के एकतत्वरुप अहंकार आत्म तत्व से बिलकुल अलग है – उसकी कोई सत्ता आत्मा पर नहीं है ।

आत्मा मैंपन पे भाव और अभाव दोनों के द्दष्टा है । मैंपन का अभाव होता है पर आत्मा का अभाव नहीं होता, सब संसार मिट जाय तो भी आत्मा की सत्ता बनी रहती है । अतः यह सत्ता ही सच्ची सत्ता है अहं की नहीं।

'जो मनुष्य इस शरीर को क्षेत्र कहते हैं और इस क्षेत्र को जानता है (परा – प्रकृति) उसको ज्ञानीजन क्षेत्रज्ञ कहते हैं ।[1] 'जो मनुष्य स्वयं को और अहं को अलग अलग जानता है उसका फिर जन्म नहीं होता[2] जो ज्ञानरुपी नेत्र से नेज्ञ और क्षेत्रज्ञ के अन्तर को तथा कार्यकारण सहित प्रकृति से (अहंकार से) स्वयं को अलग जानता है, वह परमात्मा को प्राप्त हो जाता है ।[3]

---

१ इदं शरीरं कौन्तय.... क्षेत्रज्ञ इति तद्वदः । गीता १३/१

२ य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिंच गुणेः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ १३/२३

३ क्षेत्र क्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् । गीता १३/३४

मन संबंधी विचार

मन अर्थात् अंतःकरण की ऐसी वृत्ति जो संकल्प विकल्प करती है[१]

मन अंतिम द्रव्य है जिसकी सहायता से जीव सुख दुःख का अनुभव करता है । मन का अस्तित्व मानने के लिए मुख्यतया दो प्रमाण है –

(१) हमारा यह अनुभव है कि आत्मा इन्द्रिय तथा विषय इन तीनों के रहने पर भी कभी ज्ञान होता है और कभी ज्ञान नहीं होता । जब हम अन्यमनस्क होते हैं तब वस्तु हमारे सामने से होकर निकल जाती है, परंतु उसका ज्ञान हमें तनिक भी नहीं होता है । इसका कारण क्या है ? प्रत्यक्ष के लिए आत्मा, इन्द्रिय तथा विषय ही पर्याप्त साधन नहीं है, बल्कि मन की भी सहायता सदा अपेक्षित रहती है । प्रत्यक्ष के अवसर पर विषय के साथ इन्द्रिय का संबंध होता है, इन्द्रिय का मन से और मन का आत्मा से । जब तक ये तीनों संबंध प्रस्तुत नहीं होते, किसी भी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता । जब आत्मा के साथ मन संबद्ध है, तब तो वस्तु का (जैसे पुष्पवाटिका में गुलाब का) ज्ञान हमें होता है, परंतु यदि हमारा मन दूसरी ओर लगा है तो सुंदर गुलाब हमारे सामने पड़ा ही रह जाता है, उसका ज्ञान हमें तनिक भी नहीं होता। इस प्रकार ज्ञान के साधन होने से मन की सत्ता सिद्ध होती है ।

---

१ वेदान्त शब्दकोष पृ. ८९

(२) प्रत्येक पदार्थ के ग्रहण के लिए किसी न किसी इन्द्रिय की सहायता अपेक्षित रहती है, रूप की उपलब्धि नेत्र से, तथा रस का ज्ञान हमे रसना से होता है। बाहरी विषयों के ज्ञान के लिए तो बाहरी इन्द्रियां (नेत्र आदि) होती है, उसी प्रकार सुख दु:ख जैसे भीतरी भाव पदार्थ के ज्ञान के लिए भी किसी इन्द्रिय की आवश्यकता रहती है। वह भीतरी इन्द्रिय होनी चाहिए। उसकी उपलब्धि का साधन मन है। मन ही एकमात्र अंतिन्द्रिय है। इस प्रकार मन की सत्ता सिद्ध होती है। मन प्रति शरीर में भिन्न भिन्न होने तथा अनेक क्रिया कारिता रखने से मूर्त तथा अणु परिमाण माना जाता है। लोकानुभव मन के अणुत्व सिद्ध करने में प्रधान साधन है। पुष्टवाटिका मैं बैठनेवाला पुरुष नेत्रों से फूलों की शोभा देखता है, कान से ग्रामोफोन का रेकार्ड सुनता है, तथा अपने हाथों से किसी अन्य वस्तु का स्पर्श करता है। इस प्रकार तीन इन्द्रियों के द्वारा तीन विषयों का ज्ञान उसे एक साथ हो रहा है, पर वे एक काल में न होकर क्रमानुसार एक के बाद एक होते हैं। ज्ञान युगपत् (एकसाथ) नहीं होता, वह क्रमशः होता है। ज्ञान को यह क्रमपुर्वक उत्पत्ति मन के अणुत्व की सिद्धि करने में पर्याप्त साधन मानी जाती है। यदि मन में विभुत्व होता, तो वह एक काल में इन तीनों इन्द्रियों के साथ संयुक्त हो जाता, तथा इन तीनों विभिन्न विषयों का तीनों इन्द्रियों के द्वारा एक ही काल में हमें अनुभव प्राप्त होता। पर लोक में ऐसे अनुभव का अभाव है। अतः मन में विभुत्व नहीं।

जिस इन्द्रिय के साथ मन का संयोग होगा, उस क्षण में उसके द्वारा उसके विष का ही अनुभव प्राप्त हो सकेगा । इस लिये मन अणु है, विभु नहीं ।[1]

मन को भारतीय चिंतन के आधार पर चंचल और उपासना में बाधक माना गया है[2] और गीता में मन को परमात्मा में जोड़ने की बात भी बताई है[3] – स्थिर न रहनेवाला चंचल मन जिस जिस कारण से सांसारिक पदार्थो में विचरण करता है उसे वहां से रोककर परमात्मा में ही स्थित करता है ।

मनोविग्रह के लिये साधन

मन चंचल और जीव को भी विचलित करनेवाला है । इस मन को वश में करना भी कठिन है परंतु वह अभ्यास द्वारा अर्थात् स्थिति के लिये बारबार यत्न करने से और वैराग्य के द्वारा वश में होता है ।[4]

---

१ भारतीय दर्शन पृ. २३०

२–३ यतो यतो निश्चरतिमनश्चचलम स्थिरम् ।
ततस्ततौ नियम्यैतदात्मन्वेव वशं नमेत् । गीता (६/२६)

४ अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गुह्यते । (६/३५)

मन और हृदय

मन और हृदय के लिये हमारे शब्द कोषों में विविध संज्ञाएँ हैं – एक अर्थ के अनुसार मन और हृदय दोनों एक ही है[1] एक अर्थ में मन, हृदय, आत्मा तीनों एक हैं ।[2]

उपनिषद् में मन की संकल्प विकल्प की शक्ति को जीतने की अर्थात् मनोविग्रह की बात भी बताई है और दूसरी ओर मनोमय कोष का वर्णन करके मनोमय कोष की महिमा गाकर मन को ही ब्रह्म कहा है ।[3]

निश्चय मन से ही ये जीव उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने पर मन के द्वार ही जीवित रहते हैं और अंत में प्रयाण करते हुए मन में ही लीन हो जाते हैं ।

ठीक इसी प्रकार उपनिषदों ने ब्रह्म का स्थान हृदय में माना है । – जो अंगुष्ठ परिमाण पुरुष शरीर के मध्य में स्थित है – जो त्रिकाल का शासक है... वही ब्रह्म है ।[4] और गीता में कहा है कि – हे अर्जुन शरीररुपी यंत्र

१–२ वामन शिवराम आप्टे... संस्कृत–हिन्दी शब्दकोष पृ. ११७८

३ यनोब्रह्मेति व्यजानात् । मनसौ ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । मनस जातानि जीवन्ति । मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । ३/४/१

४ अंङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सत । एतद्वैतत् छांदोग्य ॥ २/२/१२

में आरूढ़ अंतर्यामी परमात्मा अपनी माया से (उन प्राणियों के क्रमानुसार) भ्रमित रते हुए उन सर्व भूतों के हृदय में स्थित है ।[1]

उपनिषद् में हृदय का विस्तार से वर्णन मिलता है। हृदय की पांच देवसुषि बताई गई है और उसे ही प्राण, यान, समान अपान उदान नाम दिया गया है। और इस प्रकार जीवन का आधार हृदय की उपासना करने का विधान है।[2] इतना ही नहीं परंतु 'ब्रह्म को हृदय स्थित मान कर कहा है कि - द्युलोक से पर जो परम ज्योति प्रकाशित हो रही है वह निश्चय यही है' जो पुरुष के भीतर ज्योति है ।[3]

---

१ ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्दशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रासयन्सर्वभूतानि यन्त्रारुढ़ानि मायया ॥ गीता १८/६१

२ तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च
देवसुषयः स योऽस्य प्राङ्सुषः स प्राण .... छान्दो ३५- ३/१३/१
अथ योऽस्य दक्षिण सुषिः स व्यान ३/१३/२
अथ योऽस्य प्रत्यङ् सुषि सोऽपान ३/१३/३
अथ योऽस्योदृङ् सुषि स समान ३/१३/४
अथ योऽस्योर्ध्वः सुषः सु उदान ३/१३/५

३ अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु
सर्वतः पुष्ठेष्वनु त्तमेषुतमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः ॥
३/१३/७

जन्म और मृत्यु संबंधी विचार

भारतीय चिंतन में जन्म, मृत्यु और पुनर्जन्म को स्वीकार किया गया है। जन्मजन्मान्तर का कारण कर्म है । कर्म के बंधन से जीव बंधता है और कर्म की मुक्ति से जीव की मुक्ति होती है । कर्म अर्थात् कतृत्वभाव से जो कर्म होता है अर्थात् कर्ताभाव के अहं के साथ जो कर्म होता है इसकी बात समझनी चाहिए । कर्ताभाव तब तक ही रहता है जब तक आत्मज्ञान न हो। 'मैं परमात्मा से भिन्न नहीं हूं' । यह ज्ञान आत्मज्ञान है और जब तक यह आत्मज्ञान का अभाव होता है तब तक ही जीव का आवागमन रहता है । अर्थात् जन्म-मृत्यु का कारण अज्ञान है ।

श्रुति कहती है कि 'जीव अपने को और सर्वनियन्ता परमात्मा को अलग अलग मानकर इस समस्त भूतों के जीवन निर्वाहक (भोग भूमि) और सब के आश्रयभूत (प्रलयस्थान) महान् ब्रह्मचक्र में भ्रमता रहता है । और जब उससे अभिन्नरुप से सेवित होता है तब अमृततत्वों को प्राप्त हो जाता है ।[1]

---

१ सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते ।

अस्मिन्हसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे ।

पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा ।

जुष्टस्ततस्तेनाम-तत्वमेति ।।

श्वेता - ३५ १/६

जीव जब स्वयं को परमात्मा से अलग मानकर कर्ताभाव से कर्म में लगता है तब उसका विविध योनि में जन्म होता है । इस विषय में भारतीय वेदांत दर्शन का मत है कि – ''जिस प्रकार अन्न और जल के सेवन से शरीर की वृद्धि होती है वैसे ही संकल्प, स्पर्श, दर्शन, और मोह से कर्म होते हैं । फिर यह देही क्रमशः विभिन्न योनियों में जाकर उन कर्मो के अनुसार रुप धारण करता है ।[1]

'जीव अपने गुणों के द्वारा स्थूल सूक्ष्म बहुत से देह धारण करता है । फिर उन (शरीरों) के कर्मफल और मानसिक संस्कारों के द्वारा उनके संयोग (देहान्तर प्राप्ति) का दूसरा हेतु भी देखा गया है –[2]

---

१ सङ्कल्पनस्पर्शनदृष्टियो है –
ग्रासाम्बुवृष्ट्या चात्मविवृद्धिजन्म ।
कर्मायुगान्मनुक्रमेण देही ।
स्थानेषु रुपाव्यभिसंप्रपद्यते ।

श्वेता ५/११

२ स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव
रुपाणि देहि स्वगुणैर्वृणोति ॥
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां ।
संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः ।

श्वेता ५/१२

जन्म-मृत्यु से मुक्ति कैसे ?

अद्वैतवेदांत की प्रक्रिया के अनुसार जीव अविद्या की तीन शक्तियों से आवृत्त है, उन्हें, मल, विक्षेप और आवरण कहते हैं। इनमें मल अर्थात् अंतःकरण के मलीन संस्कार जनित दोषों की निवृत्ति निष्काम कर्म से होती है विक्षेप अर्थात् चित्तचांचल्य का नाश उपासना से होता है और आवरण अर्थात् स्वरुप विस्मृति या अज्ञान का नाश ज्ञान से होता है। इस प्रकार चित्त के इन त्रिविध दोषों के लिए ये अलग अलग तीन औषधियां है। इन तीनों के द्वारा तीन ही प्रकार की गतियां होती है। सकामकर्मी लोग धूममार्ग से स्वर्गादि लोकों को प्राप्त होकर पुण्यक्षीण होने पर पुनः जन्म लेते हैं। निष्काम कर्मी और उपासक अचीरादि मार्ग से अपने उपास्यदेव के लोक में जाकर अपने अधिकारानुसार सालोक्य, सामीप्य सासप्य या सामुज्य मुक्ति प्राप्त करता है। इन दोनों गतियों का छांदोग्य उपनिषद् के पांचवे अध्याय में विशद रुप से वर्णन किया गया है। इन दोनों से अलग जो तत्व ज्ञानी होते हैं उनके प्राणों का उत्क्रमण (लोकान्तर) में गमन नहीं होता, उनके शरीर में ही अपने अपने तत्वों में लीन हो जाता है और यहां ही कैवल्यपद प्राप्त होता है।[१]

---

१ छांदोग्य उपनिषद् प्रस्तावना – द्वितीय परिच्छेद।

जगत् (विविध दर्शनों के आधार पर)

अद्वैत वेदांतदर्शन के अनुसार जगत् ।

जिस प्रकार कोई जादूगर अपनी माया शक्ति के द्वारा विचित्र सृष्टि करने में समर्थ होता है, वही दशा ईश्वर की भी है ।[१] जादू उन्हीं लोगों को मोह में डाल सकता है, जो इस इन्द्रजाल के रहस्यों को नहीं जानते हैं, परन्तु उसके रहस्य जाननेवाले पुरुषों के लिये वह इन्द्रजाल मोह का विषय नहीं होता । ठीक उसी प्रकार अद्वैततत्व के ज्ञानियों के लिये इस जगत् की सत्ता निर्मूल है । इस विषय में एक विशेष समस्या का हल करना नितांत आवश्यक है । समस्या यह है कि जगत् सत्य है या असत्य ? 'जगन्मिथ्यात्व' के सिद्धांत ने सर्वसाधारण में और शिक्षित पुरुषों में भी वह धारणा फैला रखी है कि अद्वैत मतानुसार यह जगत् नितांत असत्य पदार्थ है । नित्य परिवर्तनशील या परिणाम स्वभाव ही जगत् है । परिणाम प्रवृत्ति या परिवर्तन ही जगत् का स्वभाव है – एक क्षण के लिये भी जगत् प्रवृत्तिशून्य नहीं रहता ।

सत्य की जो परिभाषा शंकराचार्यने दी है उसके अनुसार जगत् सत्य नहीं है – जिस रुप से जो पदार्थ निश्चित होता है । यदि वह रुप सतत् समभाव से विद्यमान रहे तो उसे सत्य कहते हैं ।[२] इस चंचल जगत की कोई भी वस्तु इस परिभाषा में नहीं बैठ सकती । अर्थात् वेदान्त मत के आधार पर जगत् मिथ्यातत्व है ।

---

१ मायावीय विजृम्भत्यपि महायोगीव स्वेच्छया ।

(दक्षिणामूर्ति स्तोत्र श्लोक – २)

२ यद्रूपेण यन्निश्चित् तद् रुपं न व्यभिचरति यत् सन्यम

शंकराचार्यजी के संग्रहित साहित्य – अज्ञात से

एतरेयोपनिषद् में कहा है कि–

'पहले यह एकमात्र आत्मा ही था, उसके और कोई सक्रिय वस्तु नहीं थी, उसने यह सोचा कि लोकों की रचना करूं ।'

अत् धातु से आत्मा शब्द निष्पन्न हुआ है । यह जो नाम रुप और कर्म के भेद से विविध रुप प्रतीत होनेवाला जगत् कहा गया है, वह पहले यानी संसार की सृष्टि से पूर्व सर्वश्रेष्ठ सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, क्षुधा-पिपासा आदि संपूर्ण सांसारिक धर्मों से रहित, नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वभाव, अजर, अमर, अमृत, अभय और अद्वयरुप आत्मा ही था ।[1]

---

१ आत्मा आप्नोतरत्तेरततेर्वा परः सर्वज्ञः
सर्वशक्तिरशनायादिसर्वसंसारधर्मवर्जितो
नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभावोऽजोऽजरोऽमरो
मृतोऽभयोऽद्वयोऽ वैः इदं यदुक्तं नाम
रुपकर्मभेदभिन्नं जगदात्मैवैकोऽग्रे जगतः सृष्टः प्रगासीत् ।

ॐ आत्मा वा इदमेव एवाग्र आसीत् ।
नान्यत्किंचन मिषत् । स ईक्षत् लोकान्नु सृजा इति ।

१/१/१ एतरेयोपनिषद्

मीमांसादर्शन के आधार पर जगत् संबंधी विचार

हमारी इन्द्रियाँ ही ब्रह्मवस्तुओं की उपलब्धि के साधन है । उनके द्वारा जगत् की जिस रुप से उपलब्धि होती है, उसी रुप में जगत् की सत्यता है । इस संसार में तीन प्रकार की वस्तु का ज्ञान हमें होता है । (१) शरीर – जिसमें रहकर आत्मा सुखदुःख का अनुभव करता है । (भोगायतन), (२) इन्द्रियाँ, जिनके द्वारा आत्मा सुख दुःख का भोग किया करता है । (भोग साधन), (३) पदार्थ – जिनका भोग आत्मा किया करता है (भोगविषय)। इन तीन वस्तुओं से युक्त नानारुप यह संसार अनादि तथा अनंत है । मीमांसा मूलजगत की सृष्टि तथा प्रलय नहीं मानती । केवल व्यक्ति उत्पन्न होते रहते हैं तथा विनाश को प्राप्त करते हैं, जगत की सृष्टि तथा नाश कभी नहीं होता । कुछ मीमांसक अणुवाद को स्वीकार करते हैं । जगत् के सब पदार्थ अणु से उत्पन्न हुए हैं। कर्मो के फलोन्मुख होने पर अणुसंयोग से व्यक्ति उत्पन्न होते हैं तथा फल की समाप्ति होने पर उनका नाश हो जाता है । न्याय–वैशेषिक दर्शन में भी जगत् की उत्पत्ति परमाणुओं से मानकर परमाणुवाद को स्वीकार किया गया है।[1]

---

१ 'भारतीय दर्शन' के अंतर्गत मीमांसा दर्शन पृ. ३२६

वैष्णवदर्शन के अनुसार जगत् ।

ज्ञानशून्य विकारास्पद वस्तु को 'अचित्' कहते हैं । लोकाचार्यने अचित् तत्व के तीन भेद माने है । शुद्ध सत्व, मिश्रसत्व और सत्व शून्य, शुद्ध सत्व का दूसरा नाम नित्यविभूति है । इस सत्व की कल्पना रामानुज दर्शन की विशेषता है । मिश्र सत्व तमोगुण तथा रजोगुण से मिश्रित होने के कारण प्राकृतिक सृष्टि का उपादान है । इसी का दूसरा नाम माया, अविद्या या प्रकृति है । सत्वशून्य तत्व 'काल' कहलाता है । शुद्धसत्व को शुद्ध कहने का तात्पर्य यह है कि इसमें रजोगुण तथा तमोगुण का लेशमात्र भी संसर्ग नहीं रहता । यह नित्य ज्ञानानन्द का जनक, निरवधिक तेजोरुप द्रव्यविशेष है । इस कारण ईश्वर, नित्यपुरुषों तथा मुक्त पुरुषों के शरीर, भोगसाधन, चन्दनकुसुमादि तथा भोगस्थान स्वर्गादिकों की उत्पत्ति भगवान के संकल्प मात्र से होती है । वे प्रकृति जन्य न होने से अप्राकृत है । रामानुज का यह मुख्य सिद्धांत है कि आत्मा बिना शरीर के किसी भी अवस्था में अवस्थित नहीं रह सकता । अतः मुक्तावस्था में भी आत्मा को शरीर प्राप्त होता है परंतु वह शरीर शुद्ध सत्व का बना हुआ वह शरीर अप्राकृत होता है और भगवान् की सेवा करने के निमित्त धारण किया जाता है । इस नित्य विभूति का नाम त्रिपाद विभूति, परमपद, परमव्योम, अमृत, वैकुण्ठ, अयोध्या आदि है ।[1]

---

१ 'भारतीय दर्शन' – वैष्णवदर्शन पृ. ३१९

माया

माया की व्याख्या :- स्वरुप विस्मरण, शुद्ध सत्वगुणप्रधान प्रकृति, ईश्वर की उपाधि को माया कहते हैं ।[1]

निर्विशेष निर्लक्षण ब्रह्म से सविशेष लक्षण जगत् की उत्पत्ति क्यों हुई ? एक ब्रह्म से नानात्मक जगत् की सृष्टि कैसे हुई ? इस प्रश्न के सही उत्तर के लिए माया के स्वरुप को जानना आवश्यक है ।

श्रृति उस अक्षर परमात्मा को ही मायारुप उपाधि के कारण जगत् सृष्टत्व और जगन्निमित्तत्व अलग-अलग दिखलाती है ।

वेद, यज्ञ, क्रतु व्रत, भूत भविष्य और वर्तमान तथा और भी जो कुछ वेद बतलाते हैं वह सब मायावी ईश्वर इस अक्षर से ही उत्पन्न करता है और उस (प्रपश्च) में ही माया से अन्य सा होकर बंधा हुआ है ।[2]

---

१ वेदान्त शब्दकोष

२ छन्दांसि यज्ञा यज्ञाः क्रतणो व्रतानि ।
भूतं भव्यं यच्च वेदा क्वदन्ति ।
अस्मान्मायी सृजते विश्मेत
त्तस्मिश्चान्यो मायया संनिरुद्धः । श्वेताश्वरो उप. अध्याय ४/९

श्रीकृष्णने इसलिये ही गीता में कहा है कि मेरी माया का पार पाना कठिन है ।[1]

माया के प्रकार – विद्या और अविद्या ।

माया दो प्रकार की मानी गई है । जिस अविनाशी एवं अनन्त यानी देश, काल या वस्तु से परिच्छिन्न ब्रह्मवर में – ब्रह्म यानी हिरण्यगर्भ से उत्कृष्ट अथवा परब्रह्म में विद्या और अविद्या दोनों गूढ़ यानी अव्यक्त भाव से स्थित है । उन विद्या और अविद्या को अलग अलग करके दिखाते हैं ।

उन दोनों (विद्या–अविद्या) में से क्षर अर्थात् क्षरण की हेतु यानी संसार की कारण तो अविद्या है और अमृत यानी मोक्ष की हेतु विद्या है और जो विद्या और अविद्या का शासन करता है वह उनका साक्षी होने से उन दोनों से भिन्न है ।[2]

---

१ 'मम माया दुरत्यया' – गीता ७/१४

२ द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते
विद्याविद्य निहिते यत्र गूढे ।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या ।
विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः । श्वेता ५/१

माया की सर्वव्यापकता

प्रकृति अर्थात् माया ही समझना चाहिए और उसका अधिष्ठाता स्वयं भी अपनी माया से ही अन्य सा होकर बंध गया है[1] ।

प्रकृति को माया जानना चाहिए और महेश्वर को मायावी । उसी के अवयवभू (कार्य-कारणसंघात) से वह संपूर्ण जगत् व्याप्त है ।[2]

यदि यह बात निश्चित है कि आत्मा एक ही है तो वह इन संसाररूपी प्राणादि अनन्त भावों से कैसे विकल्पित हो रहा है ? उपनिषद् ने इस विषय में उत्तर दिया है -

विकल्प की मूल माया :- जिस प्रकार मायावी द्वारा प्रयोग की हुई माया अति निर्मल आकाश को पल्लवयुक्त पुष्पित पदार्थ से परिपूर्ण कर देती है उसी प्रकार यह भी उस देव की माया है जिससे कि वह स्वयं भी मोहग्रस्त है ।[3]

---

१ स्व मायया कल्पिते तस्मिन्भूतादिप्रपञ्चे
माययैवान्य इव संनिरुद्धः संबद्धोऽविद्यावशगो भूत्वा ।
संसारसमुद्रे भ्रमतीत्यर्थः श्वेता ४/९

२ मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् । श्वेता ४/१०

३ मायेषा तस्यात्मनो देवस्य यथा मायाविना विहिता
माया गगनमतिविमलं कुसुमित्तैः रुपलाशैस्तभिराकीर्णमिव करोति तथेयमणि देवस्य माया ममायं स्वयमपि मोहितो भवति ।
माण्डू उप. २/१९

द्वैत-अद्वैत का भेद माया ही के कारण

जो परमार्थ सत् अद्वैत है वह तिमिरदोष से प्रतीत होनेवाले अनेक चंद्रमा और सर्प-धारादि भेदों से विभिन्न दिखनेवाली रज्जु के समान माया से ही भेदवान प्रतीत होती है, परमार्थतः नहीं, क्योंकि आत्मा निरअवयव है । जो वस्तु सावयव होती है वही अवयवों के भेद से भेद को प्राप्त होती है । जिस प्रकार घट आदि भेदों से मृतिका। अतः निरअवयव और अजन्मा आत्मा माया के सिवाय और किसी प्रकार भेद को प्राप्त नहीं हो सकता।

यदि उसमें तत्वतः भेद हो तो अमृत, अज और अद्वय तथा स्वभाव से ही सत्वरुप होकर भी आत्मा मर्त्यता को प्राप्त हो जायेगा । जिस तरह की अग्नि शीतलता को प्राप्त हो जाय । और अपने स्वभाव से विपरीत अवस्था को प्राप्त हो जाना संपूर्ण प्रमाणों से विरुद्ध होने के कारण को इष्ट नहीं हो सकता । अतः अज और अद्वितीय आत्मतत्व माया से ही भेद को प्राप्त होता है, परमार्थतः नहीं, इसलिये द्वैत परमार्थ सत नहीं है ।[1]

---

१ मायया भिद्यते ह्यतेन्नान्यथाजं कथश्चन ।
तत्वतो भिद्यमाने हि मर्त्यताममृतं व्रजेत् ॥ माण्डू ३/१९

ईश्वरसंबंधी चिंतन

ईश्वर का स्वरुप

ईश्वर समस्त प्राणियों में स्थित एक देव है, वह सर्वव्यापक, समस्त भूतों का अन्तरात्मा, कर्मो का अधिष्ठाता, समस्त प्राणियों में बसा हुआ, सबका साक्षी, सबको चेतनत्व प्रदान करनेवाला, शुद्ध और निर्गुण है ।[1]

जो एक अद्वितीय स्वतंत्र परमात्मा बहुत से निष्क्रिय जीवों के एक बीज को अनेक रूप कर देता है, अपने अन्तःकरण में स्थित उसको जो मतिमान देखते हैं उन्हें ही नित्यसुख प्राप्त होता है ।[2]

जो नित्यो में नित्य चेतनों में चेतन और अकेला ही बहुतों का भोग प्रदान करता है, सांख्ययोग द्वारा ज्ञातव्य उस सर्वकारण देव को जानकर पुरुष समस्त बंधनों से मुक्त हो जाता है ।[3]

---

१ एकोदेवः सर्वभूतेषु गुढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।

२ एकोवशो निष्क्रियामां बहूना ।
मेकं बीजं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा ।
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ।

३ नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना
मेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

श्वेता उप. ६/११-१२-१३

वह विश्वका कर्ता, विश्ववेत्ता आत्मयोनि (स्वयंभू), ज्ञाता, काल का प्रेरक, अपहतपाप्मत्वादि गुणवान और संपूर्ण विद्याओं का आश्रय है। तथा वही प्रधान और पुरुष का अध्यक्ष, गुणों का नियामक एवं संसार के मोक्ष, स्थिति और बंधन का हेतु है।[1]

वह तन्मय (जगद्रूप अथवा ज्योतिर्मय), अमरत्वधर्मा, ईश्वररुप से स्थित ज्ञाता, सर्वगत और भुवन का रक्षक है। जो सर्वदा इस जगत् का शासन करता है, क्योंकि इसका शासन करने के लिये कोई और समर्थ नहीं है।[2]

---

१ स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनि
ज्ञः कालकारोगुविद्यः सर्वणीः।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः
सँ सारमोक्षस्थितिबन्ध हेतुः।

२ स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो
ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्थ गोप्ता
य ईशे अस्य जगतो नित्यमेव
नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय। श्वेता ६/१६-१७

जगत् की सृष्टि ईश्वर से

वह ईश्वर सब ओर नेत्रों वाला, सब ओर मुखोंवाला, सर्वत्र भुजाओंवाला और सब तरफ पैरोंवाला है । वह एकमात्र देव (प्रकाशमय परमात्मा) द्युलोक और पृथ्वी की रचना करता हुआ वहां के मनुष्य पक्षी आदि प्राणियों को दो भुजाओं और पदों से युक्त करता है ।[1]

जीव और ईश्वर और माया

सदा परस्पर मिलकर रहनेवाला दो सखा (समान नामवाले) सुपर्ण (सुंदर गतिवाले पक्षी) एक ही वृक्ष को आश्रित किये हुए है । उनमें एक उसके स्वादिष्ट फलों को भोगता है और दूसरा उन्हें न भोगता हुआ देखता रहता है ।[2]

---

१ विश्वतश्च क्षुरुत विश्वतोमुखो
विश्वतो वाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रै
र्धावाभूमी जनयन्देव एकः । श्वेता ३/३

२ द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानंद वृक्षं परिषस्वजाते
तयोरन्यः पियालं स्वाद्वत्य
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति श्वेता ४/६

शासक पालक-पोषक और नाशक ईश्वर

जो एक जालवान् (मायावी) अपनी ईश्वरीय शक्तियों से शासन करता है, जो अकेला ही ऐश्वर्य से योग होने पर और जगत् के प्रादुर्भाव के समय अपनी अपनी शक्तियों से संपूर्ण लोकों का शासन करता है, उसे जो जानते हैं वह अमर हो जाता है ।[1]

वह एक ही रुद्र है, इसलिये (ब्रह्म विद्गण) उससे भिन्न किसी अन्य वस्तु के लिये अपेक्षा नहीं करते । वह अपनी (ब्रह्मादि) शक्तियों द्वारा इन लोकों का शासन करता है, वह समस्त जीवों के भीतर स्थित है और संपूर्ण लोकों की रचना कर उनका रक्षक होकर प्रलयकाल में उन्हें संकुचित कर लेता है ।[2]

दो पक्षी अर्थात् विज्ञानात्मा और परमात्मा उनमें से एक अर्थात् जीव अथवा विज्ञानात्मा अविद्या, काम और वासनाओं के आश्रयभूत लङ्गदेहरुप उपाधिवाला अविवेक वश उसके स्वाद अनेक विचित्र वेदना रुप स्वादवाले पिप्पल पर सुख दु:खरुप कर्मफलों को भोगता है तथा अन्य - नित्य शुद्धबुद्ध मुक्त स्वरुप परमात्मा उन्हें न भोगता हुआ उन सभी को देखता रहता है ।

ये (ईश्वर और जीव क्रमशः) सर्वज्ञ और अज्ञ तथा सर्वसमर्थ और असमर्थ है, ये दोनों ही अजन्मा है । एकमात्र अजा प्रकृति ही भोक्ता के लिये भोग्यसंपादन में नियुक्त है । विश्वरुप आत्मका तो अनन्त और अकर्ता ही है । जिस समय इन (ईश्वर, जीव और प्रकृति अर्थात् माया) तीनों को ब्रह्मरुप अनुभव करता है उस समय जीव कृतकृत्य हो जाता है ।[3]

---

१ य एको बालवानीशत ईशनीकिः सर्वा ल्लोकाँनी-शत ईशनीभिः ।
य एवैक उद्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति । त्रयं सदा विन्दते ब्रह्म मेतत् । श्वेता १/९

२ एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थु र्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीकिः ।
प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति संचुकोचान्त काले संसृज्य विश्वा भुवनानिगोपाः । श्वेता ३/१-२

३ ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशा वजाह्वेका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता ।
अनन्तश्चात्मा विश्वरुपो ह्यकर्ता त्रयं सदा विन्दते ब्रह्ममेतत् । श्वेता १/९

साधनासंबंधी चिंतन

अपने स्वरुप के अज्ञान के ही कारण इस संसार में अनन्त क्लेशों को भोगता हुआ अपना जीवन यापन करता है । वह अपने शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव को अविद्या के कारण भुला हुआ है । यह वास्तव में सच्चिदानंदात्मक ब्रह्मस्वरुप ही है । आत्मा तथा ब्रह्म में नितांत एक्य है । नानत्व ज्ञान से ही संसार है तथा एकत्व ज्ञान से ही मुक्ति है । आनंदरुप ब्रह्मत्व प्राप्ति तथा शोकनिवृत्ति मोक्ष कहलाता है । अब इस मोक्ष के लिये हमारे भारतीय चिंतन में विविध मार्गों का निरुपण किया गया है । जिनमें कर्ममार्ग-ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग विभाग किये है ।

कर्ममार्ग

'कर्म के द्वारा क्या आत्मा की स्वरुपप्राप्ति सिद्ध हो सकती है ?' आचार्यों ने इस विषय में अनेक कारणों की उद्भावना की है । अविद्यमान किसी वस्तु के उत्पादन के लिये कर्म का उपभोग किया जाता है । परंतु क्या नित्य सिद्ध सद्रूप आत्मा की स्थिति कर्मो के द्वारा उत्पन्न की जा सकती है ? किसी स्थान या वस्तु की प्राप्ति के लिए कर्म किये जाते हैं परंतु आत्मा तो सदा हमारे पास है, तब कर्म का उपयोग क्या होगा ? किसी पदार्थ में विकार उत्पन्न करने की इच्छा से तथा मन और अन्य वस्तुओं में संस्कार उत्पादन की लालसा से कर्म किये जाते हैं, परंतु आत्मा में विकार तथा संस्कार का अभाव है । अविकार्य तथा असंस्कार्य होने के निमित्त कर्मो की निष्पत्ति का प्रयास अकिंचित्कर ही है । अतः आत्मा के अनुत्पाद्य, अनाव्य, अविकार्य तथा असंस्कार्य होने के 'कारण' कर्म द्वारा उसकी निष्पत्ति हो ही नहीं सकती, अतः कर्म व्यर्थ है । साधारण तथा मलिन चित्त आत्मतत्व का बोध नहीं कर सकता, परंतु कामना हीन नित्य कर्म के अनुष्ठान से चित्त शुद्धि उत्पन्न होती है, जिसके बिना किसी प्रतिबंध के जीव आत्म स्वरुप को जान लेना है । आत्मज्ञानोत्पत्ति में सहायक होने के कारण नित्य कर्म मोक्ष साधक है । सकाम कर्मो का अनुष्ठान असुरत्व (पशुत्व) की प्राप्ति कराता है, देव तथा असुर का अंतर भी यही है । स्वाभाविक रागद्वेष-मूलक प्रवृत्तियों का दास होनेवाला अधर्मपरायण व्यक्ति असुर कहलाता है, परंतु रागद्वेष को अभिभव कर शुभवासना की प्रबलता से धर्माचरण करनेवाला पुरुष देव कहलाता है ।[१]

---

१ भारतीय दर्शन पृ. ३७४

ज्ञानमार्ग और गुरु की आवश्यकता

ज्ञानप्राप्ति की क्रिया शंकराचार्य ने 'विवेक चूडामणि' और 'उपदेश साहस्त्री' में बड़ी रोचक भाषा में वर्णित की है। शिष्य को वेदांतज्ञान की प्राप्ति के विभिन्न 'साधनचतुष्ट्य' से संपन्न होना आवश्यक है। ब्रह्म ही केवल सत्य है तदितर समस्त संसार अनित्य एवं असत्य है – इस विवेक का उदय प्रथम साधनहै नित्यानित्य – वस्तु विवेक। सांसारिक और पारलौकिक समस्त फलों के भोग से उसे वैराग्य उत्पन्न होना चाहिए। शम (मन की एकाग्रता), देम (इन्द्रियों के वश में करना) उपरति (वृत्तियों का बाह्य विषयों का आश्रय न लेना), तितिक्षा (चिंता, शोक से रहित अप्रतिकार पूर्वक दु:खों को सहना) समाधान श्रवणादि में चित्त की एकाग्रता, श्रद्धा (गुरु और वेदांतवाक्यों में अटूट विश्वास) तथा मुमुक्षुत्व (मोक्ष पाने की ईच्छा) – इन समग्र गुणों के उदय होने पर मनुष्य वेदांत श्रवण का अधिकारी बनता है। तदनंतर शिष्य शांत, दान्त अहेतुकदयासिन्धु ब्रह्मवेत्ता गुरु के शरण में जाकर आत्मविषयक प्रश्न करता है। गुरु का ज्ञान कराना उद्देश्य है, इसीलिये वेद (अध्यारोप और अपवादविधि) से ब्रह्म का उपदेश कराता है। 'अध्यारोप' निष्प्रपंच ब्रह्म में जगत् का आरोप कर देता है, और 'अपवाद' विधि से आरोपित वस्तु का एक एक कर निराकरण करना होता है। आत्मा के ऊपर प्रथमत: शरीर का आरोप, फिर आत्मा को अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनंदमय कोषों से व्यतिरिक्त तथा स्थूलसूक्ष्मकारण शरीरों से पृथक सिद्ध कर उसके स्वरुप का बोध गुरु कराता है। वेदांत की व्याख्या पद्धति बड़ी प्रामाणिक और शुद्ध वैज्ञानिक है।[1]

भक्तिमार्ग

कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग से भक्तिमार्ग सुगम और सरल है। वेद का गहन ज्ञानमार्ग शुष्क या कठिन जान पड़ता है। भारत में वैदिक परंपरा के बाद पौराणिक परंपरा और अवतार वाद के तथ्यों का स्वीकार का आरंभ हुआ। वेद के निर्गुण-निराकार ब्रह्म को अवतारी पुरुष सगुण ब्रह्म के रुप में मान्यता मिली और नारद के सूत्रों के अनुसार तथा शांडिल्यसूत्रों के अनुसार भक्ति का

---

१ भारतीय दर्शन पृ. ३७७

स्वरुप और स्पष्ट हो गया । श्रीमद्भागवत में नवधा भक्ति – अर्थात् श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, वंदन, सख्य, अर्चन, दास्य और आत्मनिवेदन – को विविध पात्रों और अख्यानों द्वारा और स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया और परवर्ती सभी वैष्णवाचार्योंने अर्थात् रामानुज, निम्बार्काचार्य, मध्व, वल्लभ आदि ने भक्ति का ही एक मार्ग दूसरे रुप से प्रतिपादन किया । उपनिषद् का सार रूप गीताने भी (ज्ञान ग्रंथ होने पर भी) मन भर के भक्ति की प्रशंसा की । श्रद्धा शरणागति को मुख्य आधार माना गया ।

सकल कल्याण गुणनिधान भगवान नारायण के अनुग्रह से ही भक्ति की जिज्ञासा होती है । कर्म के साथ भक्ति के उदय होने में ज्ञान सहकारी कारण है । मुक्ति के उदय होने में भक्ति ही प्रधान कारण है । और भक्ति में भी पराप्रपत्ति शरणागति श्रेष्ठ है । जब तक जीव भगवान के शरण में नहीं जाता तब तक उसका परम कल्याण नहीं हो सकता । शरणागति के लिये कर्मो का अनुष्ठान उचित है या अनुचित ? इस पर वैष्णवाचार्यों में पर्याप्त मतभेद है।

- टेंक्लै मत से मार्जारवृत्ति की भक्ति को श्रेष्ठ मानी है – श्री लोकाचार्य[१]
- ''बडक्ले' मत से 'मर्कटवृत्ति' को श्रेष्ठ मानी है – श्री आचार्य वेदान्तदेशिक[२]
- अद्वैतियों के अनुसार अविद्या को (कर्म के) द्वारा ही मृत्यु को दूर कर विद्या के द्वारा अमरत्व पाने का सिद्धान्त वर्णित है[३]
- रामानुज के मत से जीवनमुक्ति नहीं परंतु विदेह मुक्ति ही सम्भव है ।
- माध्व के मत से पंचभेद ज्ञान – श्रवण मनन आदि के साथ होना आवश्यक है[४]
- वल्लभ के मत से प्रभुभक्ति दो प्रकार की मानी गई है । मर्यादा भक्ति और पुष्टि भक्ति ।

इस प्रकार भक्तिमार्ग में विविध मतमतांतर होने पर भी यह सरल, सुलभ और मुक्तिदायिनी है ।

---

१ भारतीय दर्शन पृ. ४००   २ भारतीय दर्शन पृ. ४००

३ विद्यां चा विद्यां..... अविद्यया नृत्युंतीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते । इशा ११

४ भारतीय दर्शन पृ. ४२०